जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ९ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. VIII. No. I.

NO-056844
Lo-42-13

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

JUNE, 1942.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर क नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जेा वर्ष में जून और दिसम्बर में दो भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जेा पेशगो लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने मे सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे; प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक़ पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारोख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, इसकी सूचना जल्द कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए, डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ९ ज्येष्ठ किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥ एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९४२

विषय-सूची

		पृष्ठ
१	राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष की जैन दीक्षा—[श्री प्रो० हीरालाल जैन, एम०ए० एल-एल० बी०	१
२	"मोक्षमार्गस्यनेतारम्"—[श्री पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, न्यायाचार्य, काशी ...	९
३	हमारा आयुर्वेद—[श्री पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ...	१४
४	शाकटायन और उनका शब्दानुशासन—[श्री पं० नाथूराम प्रेमी ...	१८
५	जैन-सिद्धान्त-भवन और तत्सम्बन्धी कार्यप्रणाली का दर्शन—[श्री बाबू पद्मराज जैन	२९
६	श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम—[श्री बाबू कामताप्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०	३५
७	गुजराती भाषा में दिगम्बर-साहित्य—[श्री बाबू आगरचन्द नाहटा ...	३९
८	तत्त्वार्थ भाष्य और अकलंक (लेखांक ५)—[श्री प्रो० जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए०	४४
९	उत्तर कर्णाटक और कोल्हापुर राज्य के कुछ शिलालेख—[श्री बाबू कामताप्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०	५२
१०	समीक्षा और प्राप्ति-स्वीकार—(१) पञ्चमकर्म:—[के० भुजबली शास्त्री ...	५७
	(२) महावीरवाणी:— ,, ,, ...	५८
	(३) बनारसी-नाममाला:—[कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य ...	५८
	(४) जैनभंडा-गायनसंग्रह—[कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य ...	६०
	(५) पुराण और जैनधर्म—[हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ	६१
	(६) जैनधर्म में दैव और पुरुषार्थ—[नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ	६२
	(७) तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय—[नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ	६३

ग्रन्थमाला-विभाग

प्रशस्ति-संग्रह [सं० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण १९३ से २००

श्रीजिनाय नमः

जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ९ | जून, १९४२। ज्येष्ठ, वीर नि० सं० २४६८ | किरण १

राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्षकी जैनदीक्षा

[ले०—श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम.ए., एल-एल.बी.]

राष्ट्रकूटवंशके राजा अमोघवर्ष (प्रथम) इतिहास-प्रसिद्ध हैं। इन्हींने मान्यखेट राजधानी बसाई, जो अपने वैभव और सौन्दर्यमें इन्द्रपुरीसे भी बढ़ गई थी। इनके राज्यकालकी प्रशस्तियाँ शक संवत् ७३८ से ७९९ तक की मिली हैं।[१] उनसे पूर्वके राजा गोविन्दराज (तृतीय) का एक ताम्रपत्र शक ७३५ (सन् ८१३) का पाया जाता है, तथा अमोघवर्षका एक लेख शक ७८८ का उनके राज्यकालके ५२ वें वर्षका है। इन उल्लेखों परसे उनके राज्यका प्रारम्भ सन् ८१४-८१५ सिद्ध किया गया है।[२] इससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्षने सन् ८१५ से ८७७ तक ६२-६३ वर्ष अवश्य राज्य किया।

अमोघवर्ष नरेश किस धर्मके अनुयायी थे, इस प्रश्नका उत्तर भी उनके सम्बन्धके अनेक ताम्रपत्र, शिलालेख व साहित्यिक उल्लेखोंसे चल जाता है। एक कुशल नीतिज्ञ राजा किसी धर्मविशेषका पक्षपाती या विरोधी नहीं हो सकता। तदनुसार अमोघवर्षके हिन्दूधर्म व जैनधर्मके प्रति सत्कारके अनेक उल्लेख मिलते हैं। तो भी हिन्दू धर्म-सम्बन्धी उल्लेख होने पर भी इतिहासकारोंने यह स्वीकार कर लिया है कि अमोघवर्षकी

१. देखः भारतके प्राचीन राजवंश, भाग ३, पृष्ठ ३९ आदि।

२. Altekar: The Rashtrakutas and their times. P. 7

यथार्थ चित्तवृत्ति जैन धर्मकी ओर थी। इस संबंधके प्राप्य उल्लेखोंका परिचय कराकर सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकरने अपने दक्खिणके इतिहासमें लिखा है[१]—

"From all this it appears that of all the Rashtrakuta princes Amoghavarsha was the greatest patron of the Digambara Jainas; and the statement that he adopted the Jaina faith seems to be true."

अर्थात् उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह प्रतीत होता है कि समस्त राष्ट्रकूट राजाओंमेंसे अमोघवर्ष सबसे बड़ा दिगम्बर जैनियोंका संरक्षक था; और उसके जैन धर्म स्वीकार करनेकी बात भी यथार्थ प्रतीत होती है।

उसी प्रकार विश्वेश्वरनाथजी रेऊने भी कहा है कि[२] "इससे ज्ञात होता है कि यह राजा दिगम्बर जैन मतका अनुयायी और जिनसेनका शिष्य था। . . . . इससे प्रतीत होता है कि अपनी वृद्धावस्थामें इस राजाने राज्यका भार अपने पुत्रको सौंपकर शेष जीवन धर्मचिन्तनमें बिताया था।" उसी प्रकार डाक्टर अल्तेकरने स्वीकार किया है कि[३]—

"In religion Amoghavarsha had great leaning towards Jainism."

अर्थात् "धर्मके सम्बन्धमें अमोघवर्षका भारी झुकाव जैन धर्मकी ओर था।"

जिन उल्लेखोंपरसे उक्त इतिहासकारोंने अमोघवर्षके जैनधर्मके अनुयायी या जैन धर्मकी ओर विशेष आकर्षित होनेकी बात स्वीकार की है, वे संक्षेपतः इस प्रकार हैं—

(१) वीरसेनाचार्यने अपनी धवला टीका इन्हींके कालमें शक ७३८ में समाप्त की थी, तथा उनके शिष्य जिनसेनाचार्यने अपने पार्श्वाभ्युदय काव्यकी अन्तिम प्रशस्तिमें इनके सदा राज्य करते रहनेका आशीर्वाद दिया है।[४] इसी पार्श्वाभ्युदयकाव्यकी सर्गान्त पुष्पिकाओंमें जिनसेनाचार्य अमोघवर्ष नरेशके 'परमगुरु' कहे गये हैं।[५]

(२) जिनसेनाचार्यके शिष्य गुणभद्रने उत्तरपुराणमें कहा है कि अमोघवर्ष नृपति जिनसेनाचार्यको प्रणाम करनेसे अपनेको पवित्र समझता था।[६]

१ Bhandarkar: The early History of the Deccan P. 95.

२ रेऊः भारतके प्राचीन राजवंश, भाग ३, पृष्ठ ४४-४५।

३ Altekar: The Rashtrakutas and their times. P. 88.

४ 'भुवनमवतु देवः सर्वदामोघवर्षः'

५ इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचिते मेघदूतवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्य-वर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः।

६ यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भवत्-पादाम्भोजरजःपिशङ्गमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः।
संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं स श्रीमान् जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम्॥

(३) 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' नामक एक छोटासा सुन्दर सुभाषित काव्य है। यह काव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि श्वेताम्बर जैनियोंने इसे अपनाकर विमलसूरिकृत प्रकट किया है और हिंदुओंने शंकराचार्यकृत मानकर उसका आदर किया है। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायने इसे अमोघवर्षकृत ही माना है और इसका समर्थन एक प्राचीन तिब्बती अनुवादसे भी हो गया है।[१] इस काव्यके आदिमें कर्ताने वर्धमान तीर्थंकर को नमस्कार किया है[२] और अन्तके पद्यमें कहा गया है कि "यह विद्वानोंकी सुन्दर अलंकार रूप रत्नमालिका राजा अमोघवर्षकी बनाई हुई है जिन्होंने विवेकसे राज्यका त्यागकर दिया।"[३]

इन उल्लेखोंपरसे ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष नरेशने न केवल जैनधर्मकी ओर झुकाव ही दिखाया था, किन्तु जैनगुरुओंकी वे बड़ी भक्ति करते थे। अन्तिम उल्लेखसे तो ज्ञात होता है कि अन्ततः वैराग्यसे उन्होंने राजपाट त्याग ही कर दिया था। किन्तु राज्य त्याग कर उन्होंने क्या किया, इस विषय पर उक्त इतिहासज्ञोंने अपना भिन्न-भिन्न मत प्रकट किया है। सर भंडारकरने तो अपने इतिहासमें इतना ही कहा है कि "उनका जैन धर्म स्वीकार करना ठीक प्रतीत होता है!" रेऊजीका कहना है कि "इससे प्रतीत होता है कि अपनी वृद्धावस्थामें इस राजाने राज्यका भार अपने पुत्रको सौंपकर शेष जीवन धर्मचिन्तनमें बिताया था।" डॉ० अल्तेकरने बतलाया है कि अमोघवर्षके राज्यत्यागके संबंधका उल्लेख एक ताम्रपत्रमें भी पाया जाता है। यह ताम्रपत्र अमोघवर्षके ५२ वें राज्यवर्षका, शक ७८८ का, लिखा हुआ है। किन्तु उस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि उन्होंने एक नहीं अनेकबार राज्य त्याग किया था। इस परसे डॉ० अल्तेकरका मत है कि—

"It would seem that he was often putting his *Yuvarāja* or the ministry in charge of the administration, in order to pass some days in retirement and contemplation in the company of his Jaina Gurus. This again shows the pious monarch trying to put into practice the teachings both of Hinduism and Jainism which require a pious person to retire from life at the advent of old age in order to realise the highest ideals of human life."

१ Bhandarkar : Early History of the Deccan, P. 95.

२ प्रणिपत्य वर्धमानं प्रश्नोत्तररत्नमालिकां वक्ष्ये।
नागनरामरवंद्यं देवं देवाधिपं वीरम्॥

३ विवेकात्त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः॥

अर्थात् पूर्वोक्त उल्लेख परसे ऐसा मालूम होता है कि अमोघवर्ष कई बार अपने युवराजको या मंत्रिमंडलको राज्यभार सौंपकर कुछ दिन एकान्तवास और ध्यानके लिये अपने जैन गुरुओंके साथ बिताया करते थे। इससे भी यही ज्ञात होता है कि ये धर्मात्मा नरेश हिन्दू और जैनधर्मके उन उपदेशोंको अपने आचरणमें उतारनेका प्रयत्न करते थे, जिनके अनुसार धर्मिष्ठ मनुष्यको अपनी वृद्धावस्थामें संसारकी झंझटोंसे अलग होकर जीवनके उच्चतम आदर्शको प्राप्त करना चाहिये।

तब क्या प्रश्नोत्तर-रत्नमालिकामें अमोघवर्षके किसी ऐसे ही एक अल्पकालीन राजत्याग-का उल्लेख है और उसी अल्पकालमें वह रचना करके वे पुनः सिंहासन पर आ बैठे होंगे? यह बात तो सच है कि जब शक ७८८ के लेखमें उनके राज्य-त्यागका उल्लेख है, तब किसी अल्पकालीन त्यागका ही वहाँ अभिप्राय हो सकता है, क्योंकि उसके पश्चात् शक ७८९ व शक ७९९ के भी उनके लेख पाये गये हैं। किन्तु जिस राज्यत्यागका उल्लेख 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' में पाया जाता है, वह त्याग ऐसा अल्पकालीन प्रतीत नहीं होता। उस ग्रन्थके भीतर जो भाव भरे हैं, वे लेखकके स्थायी वैराग्यके परिचायक हैं, और अन्तमें 'विवेकात्त्यक्तराज्येन' विशेषण लगाया गया है। उससे तो यही जान पड़ता है कि राजाका इस बारका त्याग क्षणिक नहीं, स्थायी था; उन्होंने विवेकपूर्वक यह त्याग किया था। पर राज्य छोड़कर उन्होंने किया क्या, यह फिर भी अनिश्चित ही रहा। क्या वे गृहस्थ रहकर एकान्तमें धर्मचिन्तन करते रहे, या हिन्दू संन्यासी या जैन मुनि बन गये? पं० नाथूरामजी प्रेमीका मत है कि[1]—

"यह बात अभी विवादापन्न ही है कि अमोघवर्षने राज्यको छोड़कर मुनि-दीक्षा ले ली थी या केवल उदासीनता धारण करके श्रावककी कोई उत्कृष्ट प्रतिमाका चरित्र ग्रहण कर लिया था। हमारी समझमें यदि उन्होंने मुनि-दीक्षा ली होती, तो प्रश्नोत्तररत्नमालामें वे अपना नाम 'अमोघवर्ष' न लिखकर मुनि अवस्थामें धारण किया हुआ नाम लिखते। इसके सिवाय राज्यका त्याग करनेके समय उनकी अवस्था लगभग ८० वर्षकी थी, इसलिये भी उनका कठिन मुनिलिंग धारण करना संभव प्रतीत नहीं होता।"

उपर्युक्त उपलब्ध प्रमाणोंपरसे यह निष्कर्ष निकालना सयुक्तिक ही है। पर इस विषयके निर्णयके लिये एक और बड़ा प्रमाण उपलब्ध है, जिसकी ओर अभी तक इतिहासज्ञोंका

१ विद्वद्रत्नमाला, पृ० ८४।

पूर्ण ध्यान नहीं गया। अमोघवर्ष नृपका उल्लेख महावीराचार्यने भी अपने गणितसार-संग्रहमें किया है और इस उल्लेखकी सूचना उपर्युक्त समस्त इतिहासज्ञोंके लेखोंमें पाई जाती है। किन्तु गणितसारसंग्रहके पूरे उल्लेखका किसीने अभीतक गंभीर अध्ययन नहीं किया, और इसीलिये उससे उपर्युक्त विषय पर जो प्रकाश पड़ना चाहिए था वह अभी तक नहीं पड़ सका। अब हम यहाँ महावीराचार्य द्वारा गणितसार-संग्रहमें दी हुई अमोघवर्षकी प्रशस्तिका परिचय कराते हैं।

गणितसारसंग्रहके प्रारंभमें मंगलाचरण है जिसके प्रथम पद्यमें अलंघ्य, त्रिजगत्सार, अनन्तचतुष्टयके धारी महावीर जिनेन्द्रको नमस्कार किया गया है। दूसरे पद्यमें उन महाकान्तिधारी जैनेन्द्रको प्रणाम किया गया है, जिन्होंने संख्याके ज्ञानरूपी प्रदीपसे समस्त जगत्को प्रकाशित कर दिया है। तीसरेसे आठवें पद्य तक अमोघवर्षकी प्रशस्ति है, जो इस प्रकार है—

प्रीणितः प्राणिसस्यौघो निरीतिर्निरवग्रहः।
श्रीमतामोघवर्षेण येन स्वेष्टहितैषिणा ॥१॥
पापरूपाः परा यस्य चित्तवृत्तिहविर्भुजि।
भस्मसाद्भावमीयुस्तेऽवन्ध्यकोपोऽभवत्ततः ॥२॥
वशीकुर्वन् जगत्सर्वं स्वयं नानुवशः परैः।
नाभिभूतः प्रभुस्तस्मादपूर्वमकरध्वजः ॥३॥
यो विक्रमक्रमाक्रांतचक्रिचक्रकृतक्रियः।
चक्रिकाभञ्जनो नाम्ना चक्रिकाभञ्जनोऽञ्जसा ॥४॥
यो विद्यानद्यधिष्ठानो मर्यादावज्रवेदिकः।
रत्नगर्भो यथाख्यातचारित्रजलधिर्महान् ॥५॥
विध्वस्तैकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवादिनः।
देवस्य नृपतुङ्गस्य वर्धतां तस्य शासनम् ॥६॥

इस प्रशस्ति पर विचार करनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखकने यहाँ अमोघवर्षकी राजवृत्तिके साथ-साथ द्व्यर्थक विशेषणों द्वारा उनकी मुनिवृत्तिका वर्णन किया है। यही नहीं, किन्तु अंत तक जाते-जाते राजवृत्ति वर्णन बहुत गौण और मुनिवृत्ति वर्णन ही प्रधान हो गया है। प्रथम पद्यमें अमोघवर्ष प्राणी रूपी सस्यसमूहको संतुष्ट व निरीति और निरवग्रह

करनेवाले और स्वेष्टहितैषी कहे गये हैं। यहाँ राजाके ईति-निवारण और अनावृष्टिकी विपत्तिके निवारणके साथ-साथ सब प्राणियोंकी ओर अभय और राग-द्वेष-रहित वृत्तिका उल्लेख है। इस प्रकार वे आत्मकल्याणपरायण हो गये थे, यह 'स्वेष्टहितैषिणा' विशेषणसे स्पष्ट हैं। दूसरे पद्यमें उनके पापरूपी शत्रुओंका उनकी चित्तवृत्तिरूपी तपोज्वालामें भस्म होनेका उल्लेख है। राजा अपने शत्रुओंको अपने क्रोधकी अग्निमें भस्म कर डालता है; इन्होंने कामक्रोधादि अंतरंग शत्रुओंको कषायरहित चित्तवृत्तिसे नष्ट कर दिया था। वे 'अबन्ध्य कोप' हो गये थे, उनके क्रोधकषायका बन्ध नहीं रहा था। तीसरे पद्यमें उनके समस्त जगत्को वशीभूत करने, किन्तु स्वयं किसीके वशीभूत न होनेसे उन्हें 'अपूर्व मकरध्वज' कहा है। यहाँ भी उनके चक्रवर्तित्वकी अपेक्षा उनके समस्त इन्द्रियें व सांसारिक भावनाओंको जीतकर वीतरागत्व प्राप्त कर लेनेकी ओर विशेष लक्ष्य है। चौथे पद्यमें उनकी एक 'चक्रिकाभञ्जन' पदवीकी सार्थकता सिद्ध की है। राजमंडलको वश करनेके अतिरिक्त यहाँ स्पष्टतः उनके क्रमशः तपस्यावृद्धि द्वारा संसारचक्र परिभ्रमणका क्षय करनेका उल्लेख है। पाँचवें पद्यमें उनकी विद्या-प्राप्ति और मर्यादाओंकी वज्रवेदिका द्वारा उनके ज्ञानवृद्धि और महाव्रतोंके परिपालनका उल्लेख किया गया है। 'रत्नगर्भ' विशेषणसे स्पष्टतः उनके दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी रत्नत्रयके धारणका भाव प्रकट किया गया है। उनके 'यथाख्यात चारित्रके जलधि' विशेषणमें तो निस्संशय रूपसे उनके पूर्णमुनि और उत्कृष्ट ध्यानी होनेका वर्णन है। 'यथाख्यात-चारित्र' जैन सिद्धांतकी एक विशेष संज्ञा है। जो मुनि सकल चारित्रको धारण करके भावोंकी विशुद्धि-द्वारा समस्त कषायोंको शांत या क्षीण कर देता है, उसे ही यथाख्यातचारित्रका धारी कहते हैं। इस पद्यमें तो अमोघवर्षके मुनित्वके वर्णन होनेमें कोई संदेह ही नहीं रहता। अंतिम पद्यमें उनके एकांत छोड़कर अनेकांत-स्याद्वादन्यायका अवलंबन करनेका स्पष्ट उल्लेख है। ऐसे नृपतुंग-देवके शासन अर्थात् धर्मशासनकी वृद्धिकी आशा की गई है।

इस प्रकार इस प्रशस्तिसे कोई संदेह नहीं रहता कि राष्ट्रकूट-नरेश नृपतुंग अमोघवर्षने राज्य त्याग कर मुनिदीक्षा धारण कर ली थी और उन्होंने अपनी चित्तवृत्तिको विशुद्ध और निर्मल बनानेमें कुछ उठा नहीं रखा था।

अब रह जाती है प्रेमीजीकी यह शंका कि यदि उन्होंने मुनिदीक्षा धारण कर ली थी, तो फिर उन्होंने अपना नाम क्यों नहीं बदला ? पर यह आवश्यक नहीं है कि मुनिदीक्षा

लेने पर नाम अवश्यही बदलना चाहिये। विशेषतः जब इतना बड़ा सम्राट् दीक्षा लेता है, तो उसके पूर्व नामके साथ जो यश और कीर्ति सम्बद्ध रहती है, उसकी रक्षार्थ लोग उसके उसी नामको कायम रखना पसंद करेंगे ही। इसी कारण मौर्यनरेश चंद्रगुप्तका नाम उनके मुनि हो जाने पर भी चंद्रगुप्त ही कायम रहा पाया जाता है। अतएव प्रश्नोत्तर-रत्नमालिकामें उसके लेखकका राज्यत्याग और दीक्षाधारणके पश्चात् भी यदि अमोघवर्ष नाम उल्लिखित किया गया है, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

अमोघवर्षके वृद्धत्वके कारण उनके दीक्षा-ग्रहण करनेकी असंभावना भी प्रबल नहीं है। राज्य छोड़नेके समय अमोघवर्ष वृद्ध तो थे, पर ८० वर्ष के नहीं। उनके शक ७८८ के ताम्रपत्रमें उल्लेख है कि उनके पिता गोविंदराज जब अपनी उत्तर भारतकी विजय पूर्ण कर चुके थे, तब अमोघवर्षका जन्म हुआ था। गोविंदराजकी उत्तर भारतकी विजयका काल सन ८०६ से ८०८ तक सिद्ध होता है। अतएव जब वे सन् ८१४-८१५ में सिंहासनारूढ़ हुए, तब उनकी अवस्था केवल ६ वर्षकी[1] और जब सन् ८७७ के लगभग उन्होंने राज्य त्यागा, तब उनकी आयु ७० वर्षसे कुछ कमकी ही सिद्ध होती है। इस समय तक जिनसेनाचार्य और संभवतः उनके शिष्य गुणभद्रका स्वर्गवास हो चुका था, इसीसे उनकी किन्हीं भी प्रशस्तियोंमें उनके मुनि होनेका उल्लेख नहीं आ सका। महावीराचार्यने अपना गणितसारसंग्रह अमोघवर्षके दीक्षा-ग्रहण कर लेनेके और उनके जीवनकालके भीतर ही किसी समय लिखा होगा।

श्रीयुक्त एम गोविन्द पै ने अपने एक लेखमें[2] प्रकट किया है कि अमोघवर्षके जैनधर्म स्वीकार करने संबंधी सभी आधार निर्मूल मालूम पड़ते हैं। इस संबंधमें उनका प्रथम आक्षेप यह है कि उक्तनरेशके "५२ वें वर्षके शासनमें 'स वोऽव्यात्' इस प्रकारका हरि-हर-स्तुति संबंधी शिरोलेख रहनेसे तब तक उनने जैनधर्मको ग्रहण नहीं किया था, ऐसा कहनेमें कोई आक्षेप नहीं दीखता।" किन्तु एक तो इस उल्लेख परसे उक्त नरेशके ५२ वें वर्षके पश्चात् जैनदीक्षा ग्रहण करनेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। और दूसरे शासन शिरोलेख आदि राज्यकर्मचारियों द्वारा प्रायः राज्य-विभागकी परम्परानुसार लिखे जाते हैं, वे सदैव किसी राजाकी निजी धार्मिक मनोवृत्तिके सच्चे परिचायक नहीं कहे जा सकते।

१ Altekar: The Rashtrakutas and their times. P. 71-72.

२ नृपतुंगका मतविचार, अनेकान्त, वर्ष ३, पृ० ५७८ आदि।

पै जीका दूसरा आक्षेप यह है कि उत्तरपुराणमें जो अमोघवर्षके जिनसेनकी वन्दनाका उल्लेख है वह "जिनसेन और अमोघवर्षके बीचमें एक समय परस्पर भेंटका वर्णन मालूम पड़ता है, इससे ज्यादा अर्थ उसमें अनुमान करना ठीक नहीं मालूम होता।" पार्श्वाभ्युदय-की जिन सर्गान्त पुष्पिकाओंमें जिनसेनको अमोघवर्ष राजाका परमगुरु कहा है, वे पुष्पिकाएँ उनके मतसे जिनसेनकी स्वयं रचना न होकर "उस काव्यके टीकाकार योगिराट् पंडिताचार्य द्वारा या और किसीके द्वारा जोड़ी गई होंगी।" गणितसारसंग्रहमें उसके कर्ता-द्वारा ग्रन्थका रचनाकाल नहीं दिया गया, इससे यह निश्चयतः नहीं कहा जा सकता कि वहाँ उल्लिखित अमोघवर्षसे उपर्युक्त नरेशका ही तात्पर्य है, क्योंकि "अमोघवर्ष-नृपतुंग उपाधियोंसे युक्त नरेश बहुतसे हो गये हैं। अथवा यह वही राजा माना तो भी उक्त उल्लेखसे उसका जैनधर्मका स्वीकार करना सिद्ध नहीं होता। प्रश्नोत्तररत्नमालिकाकी जो अमोघवर्षके राज्यत्यागका उल्लेख करनेवाली अन्तिम पुष्पिका है वह शेष काव्यके छंदसे भिन्न छंदमें होनेके कारण काव्यका मौलिक अंश न होकर पीछेसे जोड़ा हुआ छंद हो सकता है।" इत्यादि। पै जीके ये सब आक्षेप तभी कुछ सार्थकता रखते हैं जब पहलेसे ही यह निश्चय कर लिया जाय कि अमोघवर्षने कभी जैन धर्म ग्रहण नहीं किया था। यदि एकाध ही उल्लेख अमोघवर्षके जैनत्वके संबंधका होता तो भी उक्त प्रकार की आपत्ति कुछ मूल्यवान् हो सकती थी। पर अनेक ग्रन्थोंके उल्लेखोंको उक्त प्रकार विना किसी आधारके, केवल शक पदसे ही अप्रमाण ठहराना उचित नहीं जँचता। अमोघवर्षके जैनत्वकी मान्यताकी प्राचीनता और मौलिकताको असिद्ध करनेमें कोई प्रबल दलील पै जीके लेखमें नहीं पाई जाती। अमोघवर्ष संबंधी समस्त उल्लेखों परसे उनके जैनत्व स्वीकार करनेमें कोई ऐतिहासिक विसंगति उत्पन्न नहीं होती।

"मोक्षमार्गस्य नेतारम्"

[ले०—श्रीयुत पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, न्यायाचार्य, काशी]

"मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥" —सर्वार्थसिद्धि

यह श्लोक सर्वार्थसिद्धि के मङ्गलश्लोक के रूप में उपलब्ध है। आचार्य विद्यानन्द ने अपनी आप्तपरीक्षा इसी श्लोक में वर्णित आप्तस्वरूप के परीक्षण के लिए बनाई है। आप्तपरीक्षा के अन्त में स्वयं लिखते हैं—

"श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य ।
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत् ।
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥"

अर्थात्—जो दीप्त रत्नों के उद्भव का स्थान है, उस अद्भुत समुद्र के समान तत्त्वार्थशास्त्र के प्रोत्थानारम्भकाल—उत्पत्ति का निमित्त बताते समय या प्रोत्थान-भूमिका बाँधने के प्रारम्भकाल में शास्त्रकार ने जो स्तोत्र रचा और जिस स्तोत्र में वर्णित आप्त की स्वामी (समन्तभद्राचार्य) ने मीमांसा की, उसकी मैं यथाशक्ति परीक्षा कर रहा हूं।

अष्टसहस्री के मङ्गलश्लोक में भी आचार्य विद्यानन्द यही बात लिखते हैं—"शास्त्रावतार-रचितस्तुतिगोचरापमीमांसितं कृतिरलङ्क्रियते मयाऽस्य"—अर्थात् शास्त्र—तत्त्वार्थशास्त्र के अवतार-अवतरणिका-भूमिका के समय रची गई स्तुति में वर्णित आप्त की मीमांसा करनेवाले आप्तमीमांसा नामक ग्रन्थ का व्याख्यान किया जाता है। यहाँ 'शास्त्रावतार' शब्द आप्त-

---

नोट: 'जैन-बोधक' वर्ष ५८, संख्या ३, में आस्थानमहाविद्वान् श्रीमान् पं० शान्तिराजजी शास्त्री मैसूर का 'किमयं तत्त्वार्थसूत्रग्रन्थस्य मंगलश्लोकः ?' शीर्षक वाला एक संस्कृत लेख प्रकाशित हुआ है। उस लेख में शास्त्रीजी ने "मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् । ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुण-लब्धये ॥" इस मंगलश्लोक को सूत्रकार उमास्वाति का सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। न्यायाचार्यजी का यह लेख उसी का खण्डनरूप है। जिन विज्ञ पाठकों ने 'जैन-बोधक' में शास्त्रीजी के उपर्युक्त लेख को पढ़ा है, उन्हें आचार्यजी के इस लेख को भी अवश्य पढ़ लेना चाहिये। मैं आशा करता हूँ कि अनुसन्धानप्रेमी अन्य विद्वान् भी इस विषय पर अपना-अपना मत अवश्य प्रकट करेंगे।

—के० भुजबली शास्त्री

परीक्षा के "प्रोत्थानारम्भकाल" का समानार्थक है। विद्यानन्द के इन उल्लेखों से निम्नलिखित बातों का स्पष्ट सूचन होता है—

१ आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्री ग्रन्थ 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक में वर्णित आप्त की परीक्षा के लिए लिखे जा रहे हैं।

२ इसी श्लोक में वर्णित आप्त की मीमांसा स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपनी आप्त-मीमांसा में की है।

३ यह 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक तत्त्वार्थशास्त्र की उत्पत्ति का निमित्त बताते समय, या उसकी अवतरणिका-भूमिका बांधते समय शास्त्रकार ने बनाया है।

तीसरी बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस शास्त्रकार ने तत्त्वार्थशास्त्र की उत्पत्ति का निमित्त बताया या उसकी उत्थानिका-भूमिका या अवतरणिका बांधी, उसी शास्त्रकार ने उस भूमिका के प्रारम्भ में इस मङ्गलमय स्तोत्र को रचा है। यहाँ यदि यह तत्त्वार्थशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र है, तो उसकी उत्पत्ति का निमित्त बतानेवाले या भूमिका-अवतरणिका बांधनेवाले आचार्य पूज्यपाद हैं। इन्होंने सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में ही तत्त्वार्थसूत्र का उत्पत्तिनिमित्त बताया है। और उसी भूमिका के प्रारम्भ में इस जैन वाङ्मय के अमररत्नरूप मङ्गल श्लोक को रचा हैं।

इस तरह विद्यानन्द के उक्त उल्लेख हमें इस स्पष्ट परिणाम पर पहुँचा देते हैं कि उक्त मङ्गलश्लोक आचार्य पूज्यपाद के द्वारा तत्त्वार्थशास्त्र की भूमिका बाँधते समय सर्वार्थसिद्धि के मङ्गलरूप में रचा गया है।

वस्तुतः यह मङ्गलश्लोक, आचार्य पूज्यपाद ने ही बनाया है। निम्नलिखित कारणों से यह स्तोत्र स्वयं सूत्रकार उमास्वाति का तो नहीं मालूम होता—

१ जहाँ तक प्राचीन आस्तिक सूत्र-ग्रन्थ देखने में आए हैं, उनमें कहीं भी मङ्गलाचरण करने की पद्धति नहीं है।

२ यदि यह सूत्रकार-कृत होता, और तत्त्वार्थसूत्र का ही अङ्ग होता, तो उसकी व्याख्या करनेवाले पूज्यपाद, अकलङ्क और विद्यानन्द आदि आचार्यों ने अपने सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक आदि व्याख्या-ग्रन्थों में इसका व्याख्यान या निर्देश अवश्य किया होता।

३ यदि पूज्यपाद ने स्वयं इसे नहीं बनाया होता और वे इसे सूत्रकारकृत समझते होते तो वे सर्वार्थसिद्धि में इसका व्याख्यान अवश्य करते।

४ सर्वार्थसिद्धि पर प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थवृत्तिपद-विवरण नाम का एक विवरण उपलब्ध है। इसमें इस मङ्गलश्लोक को सर्वार्थसिद्धि का मानकर उसका यथावत् व्याख्यान किया है।

५ तत्त्वार्थसूत्र थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ श्वेताम्बर परम्परा में भी मान्य है। उस पर एक स्वयं सूत्रकार का स्वोपज्ञ-भाष्य भी प्रसिद्ध है। सिद्धसेनगणि, हरिभद्र, यशोविजय उपाध्याय आदि आचार्यों ने इसपर टीकाएँ लिखी हैं। इन सभी व्याख्याओं में इस मङ्गलस्तोत्र का उल्लेख तक नहीं है। यदि यह स्वयं उमास्वाति-कृत होता, तो कोई कारण नहीं था कि इन श्वेताम्बर व्याख्याओं में न पाया जाता। इस श्लोक में कोई भी ऐसी साम्प्रदायिक वस्तु नहीं है, जिससे साम्प्रदायिकता के कारण इसके छोड़ने का प्रसङ्ग आता। यदि इन प्राचीन आचार्यों को यह ज्ञात होता कि यह श्लोक सूत्रकार का है, तो वे इस अमूल्य बेजोड़ श्लोकरत्न को कभी भी नहीं छोड़ते। वे इसपर व्याख्या करते और स्वतन्त्र ग्रन्थ तक रचते।

इत्यादि कारणों से यह निःसंकोच कह सकते हैं कि यह श्लोक स्वयं सूत्रकार-कृत नहीं है, किन्तु पूज्यपाद-कृत है।

परन्तु विद्यानन्द आचार्य ही आप्तपरीक्षा (पृ० ३) के प्रारम्भ में इसी श्लोक को सूत्रकार-कृत लिखते हैं—"किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते—मोक्षमार्गस्य नेतारम्....." इस पंक्ति में यही श्लोक सूत्रकार-कृत कहा गया है। पर जब हम विद्यानन्द की लेखन-शैली का ध्यान से समीक्षण करते हैं तब यह उलझन सुलझ जाती है। आचार्य विद्यानन्द की शैली की यह विशेषता है कि वे अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य को सूत्रकार और पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ को सूत्र लिखते हैं। उदाहरणार्थ—तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक (पृ० १८४) में वे अकलङ्कदेव का सूत्रकार शब्द से तथा राजवार्तिक का सूत्र शब्द से उल्लेख करते हैं—"तेन 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणम्' इत्येतत् सूत्रोपात्तमुक्तं भवति। ततः प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा। द्रव्यपर्याय-सामान्यविशेषात्मतत्त्वेदनम्॥ सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलङ्कावबोधने।" इस अवतरण में 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' वाक्य राजवार्तिक (पृ० ३८) का है तथा 'प्रत्यक्षलक्षणं' श्लोक न्याय-विनिश्चय (पृ० ३) का है। आप्तपरीक्षा (पृ० ६४) में ही वे "तत्त्वार्थसूत्रकारैः उमास्वामि-प्रभृतिभिः" शब्द लिखकर न केवल उमास्वामी को ही सूत्रकार लिखते हैं। अपि तु प्रभृतिशब्द से अन्य पूज्यपाद आदि आचार्यों का भी सूत्रकार होना सूचित करते हैं। अतः मात्र सूत्रकार के नाम से 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक को उद्धृत करने के कारण विद्यानन्द का झुकाव उसे उमास्वातिकृत मानने की ओर है, यह नहीं कहा जा सकता। जो विद्यानन्द राजवार्तिक को सूत्र तथा अकलङ्क को भी सूत्रकार लिख सकते हैं, वे यदि सर्वार्थसिद्धिकार को सूत्रकार लिखते हैं, तो कोई अनहोनी या आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि सर्वार्थसिद्धि

तो राजवार्तिक या श्लोकवार्तिक के लिए आधारभूत सूचनाकारिणी होने से सूत्रकल्प ही रही है। एक बात और खास तौर से ध्यान देने की है कि विद्यानन्द आप्तपरीक्षा बनाने से पहिले अपने श्लोकवार्तिक और विद्यानन्दमहोदय ग्रन्थों की रचना कर चुके हैं; क्योंकि आप्तपरीक्षा (पृ० ६४) में उन्होंने इनके देखने की प्रेरणा की है। यदि विद्यानन्द इस मङ्गल-श्लोक को सूत्रकार उमास्वातिकृत मानते होते, तो उसकी व्याख्या श्लोकवार्तिक में अवश्य करते। अतः विद्यानन्द का मत इस श्लोक को उमास्वातिकृत मानने की ओर नहीं कहा जा सकता। इसी तरह आप्तपरीक्षा के अन्त में आए हुए—

"इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।
प्रणीताप्तपरीक्षेयं कुविवादनिवृत्तये ॥"

इस अनुष्टुप श्लोक में 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' पद 'प्रोत्थानारम्भकाले' अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। ३२ अक्षरवाले इस छोटे से श्लोक में इससे अधिक की गुंजाइश ही नहीं है। 'तत्त्वार्थ-शास्त्रादौ' का अर्थ भी 'तत्त्वार्थशास्त्र की भूमिका के प्रारम्भ में' यही करना चाहिए। इस तरह आचार्य विद्यानन्द के उल्लेख तथा पूज्यपाद आदि आचार्यों के द्वारा उक्त श्लोक की व्याख्या न होने के कारण इस मङ्गलश्लोक को उमास्वाति-कृत किसी भी तरह नहीं माना जा सकता। यह श्लोक निर्विवादरूप से तत्त्वार्थसूत्र की भूमिका बाँधनेवाले, आचार्य पूज्यपाद के द्वारा ही बनाया गया है और सर्वार्थसिद्धि में बराबर उसी रूप में उपलब्ध है। यही कारण है कि स्वयं पूज्यपाद तथा अन्य अकलङ्क आदि दिगम्बर आचार्य तथा सिद्धसेनगणि आदि श्वेताम्बर आचार्यों ने इसको तत्त्वार्थसूत्र का अङ्ग नहीं माना और न इसकी व्याख्या ही की है। श्वे० परम्परा में प्रसिद्ध स्वोपज्ञभाष्य में भी इसकी व्याख्या नहीं है। इस भाष्य में तत्त्वार्थ-सूत्र के प्रारम्भ में ३१ सम्बन्धकारिकाएँ हैं। यदि इस श्लोक को उमास्वाति ने बनाया होता, तो भाष्य में छूटने का कोई भी कारण नहीं है।

नहीं मालूम, श्रुतसागरसूरि (१६वीं सदी), बालचन्द्र योगीन्द्रदेव आदि १५-१६ वीं सदी के व्याख्याकारों ने किस परम्परा के आधार से इस मङ्गलश्लोक को उमास्वामि-कृत लिख दिया है। हो सकता है कि सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में उसे देखकर उन्होंने सूत्रकार-कृत मान लिया हो।

विद्यानन्द के उल्लेखानुसार जो दूसरी बात सूचित होती है वह यह है कि इसी श्लोक पर स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपनी आप्तमीमांसा बनाई है, यह इतिहासज्ञों के खास ध्यान देने योग्य है। इस उल्लेख में यदि ऐतिहासिक दृष्टि भी निविष्ट है तो समन्तभद्र का समय पूज्यपाद के अनन्तर नहीं तो समकाल तक तो अवश्य सिद्ध होगा। ऐसी दशा में जैनेन्द्र व्याकरण में आये हुए "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" सूत्र में यदि इन्हीं समन्तभद्र का उल्लेख है, तो समन्तभद्र

को पूज्यपाद का समकालीन मानकर ही निर्वाह किया जा सकेगा। श्रीमान् पंडित सुखलाल जी सा० का इस विषय में यह तर्क† "कि यदि समन्तभद्र पूज्यपाद के पूर्ववर्ती होते, तो समन्तभद्र की आप्तमीमांसा जैसी अनूठी कृति का उल्लेख अपनी सर्वार्थसिद्धि आदि कृतियों में किए विना न रहते" हृदय को लगता है। विद्यानन्द के 'स्वामिमीमांसितं तत्' "प्रपञ्चतस्तदन्वयस्य आक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रदेवैः देवगमाख्याप्त-मीमांसायां प्रकाशनात्।" (आप्त प० पृ० ६४)। आदि उल्लेखों के प्रकाश में तो वह पर्याप्त पुष्टि पा लेता है। आशा है, समन्तभद्र स्वामी के समय विचार में इसका पूरा-पूरा उपयोग किया जायगा।

---

† देखो अकलङ्कग्रन्थत्रय और न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भाग का प्राक्कथन।

नोट: आस्थानमहाविद्वान् पं० शान्तिराजजी शास्त्री ने 'जैन-बोधक' में इसी विषय को लेकर पं० भुजबलीजी शास्त्री पर अनेक अनुचित एवं निर्मूल व्यक्तिगत आक्षेप कर डाले हैं। कहीं-कहीं तो उनकी भाषा शिष्टता को भी लांघ गई है। मेरे विचार से ऐसी बातों की उपेक्षा करना ही उनका सर्वोत्तम उत्तर है। पं० भुजबलीजी शास्त्री की साहित्यसेवाएँ किसी से छिपी नहीं हैं। 'भास्कर' का संपादन ही इसका जीवित उदाहरण है। आस्थान-महाविद्वान्जी ने इसी ऐतिहासिक प्रसङ्ग को लेकर बाबू निर्मलकुमारजी आदि को उभाड़ने का जो प्रयत्न किया है, वह सहृदय विद्वत्समष्टि की दृष्टि में अशोभन है। इससे उनके उद्देश की सिद्धि तो हो ही नहीं सकती। हाँ, हृदय की कमजोरी का प्रदर्शन अवश्य हो जाता है। मैं आशा करता हूँ कि सभी विद्वान् ऐतिहासिक या तात्त्विक चर्चा को व्यक्तिगत आक्षेपों से सर्वथा अलिप्त रखने का पूरा प्रयत्न करेंगे। आशा है, पं० भुजबलीजी शास्त्री इस व्यर्थ की तू-तू मैं-मैं में न पड़ेंगे।

—लेखक

हमारा आयुर्वेद

[ले०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

जर्मनी, अमेरिका और इंगलैण्ड आदि पश्चिम राष्ट्रों के विख्यात विद्वान् भी अब मानने लगे हैं कि संसार भर को चिकित्सा-प्रणालियों का जन्मदाता हमारा आयुर्वेद ही है। अपने दीर्घकालीन अविश्रान्त अनुसंधान के फलस्वरूप इतिहास-विशारदों का भी कहना है कि सर्वप्रथम बौद्धों ने चरक एवं सुश्रुत इन महान् ग्रन्थों का अनुवाद पाली भाषा में करके जापान और चीन देशों में फैलाया तथा आज भी उन देशों की चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद-चिकित्सा-पद्धति से मिलती-जुलती है। इतना ही नहीं, अरबी भाषा के प्राचीन ग्रन्थों में भी अनेकत्र उल्लिखित चरकसुश्रुतों का उल्लेख दृष्टि-गोचर होता है।

आयुर्वेदीय औषधों को ढूंढ़ निकालने वाले हमारे जितेन्द्रिय, समदर्शी ऋषि-महर्षियों ने जंगलों में वास करते हुये केवल लोकहित के लिये इस ओर गम्भीर विचार के साथ विपुल परिश्रम किया है। निर्दोष, चमत्कारी एवं अधिक लाभकारी विशिष्ट औषधों को निर्माण करने के लिये स्वार्थ-शून्य विचार अधिक आवश्यक है। आयुर्वेद, ज्योतिष और मन्त्रवाद आदि विद्याएं वास्तव में लोककल्याण के लिये ही पैदा हुई हैं। आजकल के चिकित्सकों में उपर्युक्त वे गुण बहुत ही कम मात्रा में मिलते हैं। इसीलिये आज हमारे आयुर्वेद की दशा इतनी गिर गई है। एक बात और है। आज हमारे आयुर्वेद-विद्वानों में इस विषय में परिपूर्णता प्राप्त कर नवीन नवीन आविष्कारों द्वारा आयुर्वेद के महत्त्व को संसार में प्रकट करने योग्य पण्डित भी नहीं हैं! आजकल की आयुर्वेदाध्ययन की प्रणाली भी इस युग के अनुकूल नहीं है। अन्यान्य चिकित्सा-पद्धतियों में हमें प्रतिदिन नये-नये सुधार दृष्टिगत हो रहे हैं। परन्तु खेद की बात है कि हमारे बहुत से आयुर्वेदज्ञ अभी तक चरक-सुश्रुत युग का ही स्वप्न देख रहे हैं। ये सुधार नहीं चाहते हैं। अनुसंधान की ओर तो इनका लक्ष्य ही नहीं जाता। इसमें सन्देह नहीं है कि प्राचीन ऋषि-महर्षियों के प्रयोगों को ही थोड़ा-सा परिवर्तन कर अपने नाम से रजिष्ट्री कराने वाले वैद्य काफी मिलेंगे। किन्तु वास्तव में यह चीज उनको नहीं है। इस गुरुतर लोकोपकारी विद्या के लिये पसीना बहाने वाले हमारे यहाँ बहुत कम हैं। इसीलिये आज आयुर्वेद की अवस्था इतनी दयनीय हो गई है।

बहुधा बहुमूल्य एलोपैथिक औषध, सुई (इंजेक्शन) आदि के द्वारा आराम नहीं होने वाले सन्निपात, विषम ज्वर, क्षय, प्रसूत, संग्रहणी, मधुप्रमेह आदि असाध्य रोगों को हमारे पूर्वजों के द्वारा हजारों वर्ष के पूर्व ढूंढ़ निकाले गये मकरध्वज, जयमङ्गलरस, च्यवनप्राश, वसन्ततिलक एवं सुवर्णभस्म आदि अमूल्य औषध आसानी से दूर कर सकते हैं। आज भी विशुद्ध विष किस रोगी को किस परिमाण में देना चाहिये, इस बात का विशद ज्ञान बड़े

बड़े सर्जनों की अपेक्षा एक भारतीय वैद्य अधिक रखता है। इस संबंध में हमारे पूर्वजों ने पर्याप्त परिश्रम किया है। आयुर्वेद में नाड़ीज्ञान तो अपना एक खास स्थान रखता है। इस संबंध में 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' में प्रकाशित आयुर्वेदपंचानन पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल के द्वारा लिखित भारतीय चिकित्सा-शास्त्र की विशेषता—नाड़ी-परीक्षा - शीर्षक लेख अवश्य पठनीय है। चरकसुश्रुतसदृश बहुमूल्य चिकित्सासंबंधी ग्रन्थ प्राचीन पाश्चात्य चिकित्सा-साहित्य में एक भी उपलब्ध नहीं है। इसीलिये प्रो० विलसन, सर विलीयम हंटर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय शल्यचिकित्सा, रसायनशास्त्र, धातुशास्त्र, सूचिकाभेदन, सर्पचिकित्सा, पशुचिकित्सा आदि विषयों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा कर आयुर्वेद चिकित्सा-प्रणाली को ही संसार की आदिम चिकित्सा-प्रणाली माना है।

हमारे पूर्वज शल्यचिकित्सा में पूर्ण निष्णात थे, इस बात को प्रमाणित करने के लिये मैं रायबहादुर महामहोपाध्याय श्रीमान् गौरीशंकर हीराचंद ओझा की 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' से कुछ अंश यहां पर उद्धृत किये देता हूँ। इससे शायद हमारी उन्नति-प्राप्त प्राचीन शल्यचिकित्सा से अनभिज्ञ वर्तमान प्रगतिशील पाश्चात्य शल्यचिकित्सा के अनन्य भक्त भारतीय विद्वानों की आँखें खुलेंगी। हाँ, मैं इस संबंध में इतना और कह देना चाहता हूँ कि जो प्राचीन शल्यचिकित्सा के विषय में विशेष देखना चाहें वे 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग ८, अंक १, २ में प्रकाशित 'प्राचीन शल्यतन्त्र' शीर्षक लेख अवश्य देखें।

"चीर फाड़ के शस्त्र साधारणतया लोहे के बनाए जाते थे, परन्तु राजा एवं सम्पन्न लोगों के लिये स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि के भी प्रयुक्त होते थे। यन्त्रों के लिये लिखा है कि वे तेज खुरदरे, परन्तु चिकने मुखवाले, सुदृढ़, उत्तम रूपवाले और सुगमता से पकड़े जाने के योग्य होने चाहिये। भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये शस्त्रों की धार, परिमाण आदि भिन्न-भिन्न होते थे। शस्त्र कुंठित न हो जाय, इसलिये लकड़ी के शस्त्रकोश (cases) भी बनाए जाते थे, जिनके ऊपर और अन्दर कोमल रेशम या ऊन का कपड़ा लगा रहता था। शस्त्र आठ प्रकार के—छेद्य, भेद्य, वेध्य (शरीर के किसी भाग में से पानी निकालना), एष्य (नाड़ी आदि में व्रण का ढूँढ़ना), आर्ष्य (दाँत या पथरी आदि का निकालना), विस्राव्य (रुधिर का विस्रवण करना), सीव्य (दो भागों को सीना), और लेख्य (चेचक के टीके आदि में कुचलना)—हैं। सुश्रुत ने यंत्रों (औजार, जो चीरने के काम में आते हों) की संख्या १०१ मानी है; परन्तु वाग्भट्ट ने ११५ मानकर आगे लिख दिया है कि कर्म अनिश्चित हैं, इसलिये यन्त्र संख्या भी अनिश्चित है; वैद्य अपने आवश्यकतानुसार यंत्र बना सकता है। शस्त्रों की संख्या भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मानी है। इन यंत्रों और शस्त्रों का विस्तृत वर्णन भी उन ग्रन्थों में दिया है। अर्श, भगंदर, योनिरोग, मूत्रदोष, आर्त्तवदोष, शुक्रदोष आदि रोगों के लिये भिन्न-भिन्न यन्त्र

प्रयुक्त होते थे। व्रणवस्ति, वस्तियंत्र, पुष्पनेत्र, (लिंग में औषध प्रविष्ट करने के लिये), शलाका-यंत्र, नखाकृति, गर्भशंकु, प्रजननशंकु (जीवित शिशु को गर्भाशय से बाहर करने के लिये), सर्प-मुख (सीने के लिये) आदि बहुत से यन्त्र हैं। व्रणों और उदरादि संबंधी रोगों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की पट्टी बांधने का भी वर्णन किया गया है। गुदभ्रंश के लिये चर्मबंधन का भी उल्लेख है। मनुष्य या घोड़े के बाल सीने आदि के लिये प्रयोग में आते थे। दूषित रुधिर निकालने के लिये जोंक का भी प्रयोग होता था। जोंक की पहले परीक्षा कर ली जाती थी कि वह विषैली है अथवा नहीं। टीके के समान मूर्छा में शरीर को तीक्ष्ण अस्त्र से लेखन कर दवाई को रुधिर में मिला दिया जाता था। गति व्रण (Sinus) तथा अर्बुदों की चिकित्सा में भी सूचियों का प्रयोग होता था। त्रिकूर्चक शस्त्र का भी कुष्ठ आदि में प्रयोग होता था। आजकल लेखन करते समय टीका लगाने के लिये जिस तीन-चार सुइयों वाले औजार का प्रयोग होता है, वह यही त्रिकूर्चक है। वर्तमान काल का (Tooth-elevator) पहले दंत-शंकु के नाम से प्रचलित था। प्राचीन आर्य कृत्रिम दाँतों का बनाना और लगाना तथा कृत्रिम नाक बनाकर सीना भी जानते थे। दाँत उखाड़ने के लिये एनीपद शस्त्र का वर्णन मिलता है। मोतियाबिंद (Cataract) के निकालने के लिये भी शस्त्र था। कमलनाल का प्रयोग दूध पिलाने अथवा वमन कराने के लिये होता था, जो आजकल के (Stomach Pump) का कार्य देता था।" [पृष्ठ १२०—१२२]

इसी प्रकार भारतीय प्राचीन सर्पचिकित्सा और पशुचिकित्सा भी अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। सिकन्दर का सेनापति नियार्कस लिखता है कि यूनानी लोग सर्पविष दूर करना नहीं जानते, परन्तु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पड़े, उन सब को भारतीयों ने दुरुस्त कर दिया।* दाहक्रिया एवं उपवास चिकित्सा से भी भारतीय पूर्णतया परिचित थे। शोथरोग में नमक न देने की बात भी भारतीय चिकित्सक हजार वर्ष पूर्व जानते थे। हमारे पूर्वजों का निदान उच्चकोटि का था। 'माधवनिदान' आज भी संसार में अपना खास स्थान रखता है। शुद्ध जल का संग्रह और व्यवहार कैसे किया जाय, औषध द्वारा कुओं का पानी साफ करना, महामारी फैलने पर कृमिनाशक औषधों के द्वारा स्वच्छता रखना आदि बातों का उल्लेख 'मनुस्मृति' में स्पष्ट मिलता है। आयुर्वेद में शरीर की बनावट, भीतरी अवयवों, मांसपेशियों, पुट्ठों, धमनियों और नाड़ियों का भी विशद वर्णन उपलब्ध होता है। वैद्य निघंटुओं में खनिज, वनस्पति और पशुचिकित्सा-संबंधी औषधों का बृहद् भाण्डार है। भारतीय आयुर्वेद-विशारदों को शरीर-विज्ञान का ज्ञान भी पर्याप्त था। अन्यथा वे स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी आदि की चित्ताकर्षक मूर्त्तियों को नहीं बना सकते थे। भारतीयों का रासायनिक ज्ञान आशातीत

* वाइज ; हिस्ट्री आफ मैडिसिन ; पृष्ठ ६

विस्मयकारक था। वे गंधक, शोरा आदि के तेजाब (Acid) जस्ता, लोहा, सीसा आदि के ऑक्साइड (Oxide) तथा कारबोनेट और साल्फाइड आदि तैयार करते थे। इन रसायनों के द्वारा वे निराश रोगियों को पुनः स्वस्थ एवं वृद्धों को जवान बनाते थे। सूर्य की किरणें रोगोत्पादक कीटाणुओं को नष्ट करती हैं, इस बात को भारतीय पहले ही से जानते थे। श्वासरोग के लिये धतूरे का धुआँ पीने की विधि यूरोपियनों ने भारतीयों से ही सीखी है। 'विश्वबंधु' ५, अगस्त १९३४ के एक विद्वत्तापूर्ण लेख में लाहौर के कविराज श्रीहृषिकृष्ण सहगल ने इस बात को सिद्ध कर दिखा दिया है कि हाल में अमेरिका में पुरुषसंयोग के विना ही जिन पिचकारियों द्वारा स्त्री गर्भवती बनाई गई है, उन पिचकारियों का उद्गम-स्थान भारतवर्ष ही है। भारतीय रसायन के द्वारा कृत्रिम सुवर्ण बनाना भी भली भांति जानते थे। इन सब बातों का विशद वर्णन इस छोटे वक्तव्य में नहीं हो सकता है। इस संबंध में अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों को The Ayurvedic System of Medicine by Kaviraj Nagendra Nath Sen, A. History of Hindu Chemistry by Praphulla Chandra Roy, The Positive Sciences of the Ancient Hindus by Brajendra Nath Seal आदि पुस्तकों को अवश्य पढ़ना चाहिये।

संसार में जीवन से बढ़ कर प्यारी वस्तु दूसरी नहीं है। यही कारण है कि क्षुद्र से क्षुद्र कृमि-कीट से लेकर मनुष्य तक एवं जीर्ण रोगी से लेकर तन्दुरुस्त जवान तक सभी इस जीवन-रज्जु को अधिक लम्बी करने के उद्योग में सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। जिस जीवन से ऐहिक और पारलौकिक दोनों सिद्धियाँ मिलती हैं, उसे दीर्घकाल तक स्वस्थ तथा कार्यक्षम बनाये रखने के लिये ही प्राचीन आर्यों ने आयुर्वेद का अनुसंधान किया था। हिन्दू, जैन एवं बौद्ध इन तीनों भारतीय प्रधान धर्मों के आयुर्वेदीय ग्रन्थों को मिलाने से हमारा आयुर्वेदीय साहित्य बहुत बढ़ जाता है। पूर्व में आयुर्वेद यहाँ की एक सर्वसुलभ विद्या थी। इसीलिये आज भी बड़े-बड़े सर्जनों एवं वैद्यों से आराम नहीं होनेवाले कई एक कठिन रोगों को एक दिहाती अशिक्षित सामान्य व्यक्ति अच्छा कर देता है। भारत की उर्वरा भूमि ने इसके लिये सर्वत्र बहुमूल्य ओषधियाँ भी जुटा रखी हैं। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि हमारे पूर्वजों ने स्पष्ट घोषित कर दिया है कि जो व्यक्ति जहाँ पैदा हुआ हो, उसे वहीं के ओषधियाँ अधिक लाभकारी होती हैं। इसके लिये केवल एक ही दृष्टांत पर्याप्त है कि कुनाइन सल्फेट आदि ओषध इंगलैण्ड आदि शीतप्रधान देशों में जितना काम करते हैं, उतना उष्णप्रधान हमारे भारतवर्ष में नहीं कर पाते।*

*नोट : "वैद्यसार" के प्रकाशकीय वक्तव्य का एक भाग। —लेखक

शाकटायन और उनका शब्दानुशासन

[ले०—श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी]

शाकटायन या पाल्यकीर्ति

शाकटायन नामके एक बहुत प्राचीन आचार्य हो गये हैं जिनके मतका उल्लेख पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमें किया है। ऋग्वेद और शुक्ल यजुर्वेदके प्रातिशाख्यामें तथा यास्काचार्यके निरुक्तमें भी इनका जिक्र है। इनका समय इतिहासज्ञोंने ईस्वी सन्से लगभग एक हजार वर्ष पहले अनुमान किया है* और उनका उल्लेख करनेवाले पाणिनिका साढ़े छह सौ वर्ष पहले। इन शाकटायनका कोई व्याकरण-ग्रन्थ था जो अब मिलता नहीं है।

परन्तु शाकटायन नामका एक और व्याकरण ग्रन्थ है जिसके कर्त्ता जैन थे। वे भी शाकटायन नामसे प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह बहुत कम लोग जानते हैं कि उनका वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति था।

वादिराजसूरि ने अपने 'पार्श्वनाथ-चरित' काव्यमें उनका स्मरण इस प्रकार किया है—

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान्कुरुते जनान्॥

अर्थात्, उस महातेजस्वी पाल्यकीर्तिकी शक्तिका क्या वर्णन किया जाय जिसका 'श्री' पद-श्रवण ही लोगोंको शाब्दिक या व्याकरणज्ञ कर देता है।

शाकटायनकी अमोघवृत्ति नामकी एक स्वोपज्ञ टीका है। उसका आरंभ 'श्रीवीरममृतं ज्योतिः' आदि मंगलाचरणसे होता है। वादिराजसूरिने इसी मंगलाचरणके 'श्री' पदको लक्ष्य करके यह बात कही है कि पाल्यकीर्ति (शाकटायन) के व्याकरणका आरम्भ करनेपर लोग वैयाकरण हो जाते हैं।

पूर्वोक्त श्लोककी टीका आचार्य शुभचन्द्र अपनी 'पार्श्वनाथचरित-पंजिका' में इस प्रकार करते हैं—"तस्य पाल्यकीर्तेः महौजसः श्रीपदश्रवणं। श्रिया उपलक्षितानि पदानि शाकटायन-सूत्राणि तेषां श्रवणं आकर्णनं।" इससे यह स्पष्ट होता है कि पंजिकाकार शुभचन्द्र पल्यकीर्तिको शाकटायन-सूत्रोंका कर्त्ता मानते थे।

शाकटायन-प्रक्रिया-संग्रहके मंगलाचरणमें† जिनेश्वरको पाल्यकीति और मुनीन्द्र विशेषण दिये हैं, जो श्लिष्ट हैं। उसके द्वारा एक अर्थमें जिनेश्वरको और दूसरे अर्थमें प्रसिद्ध

---

*—† देखो डा० श्रीपाद कृष्ण बेलवलकरका 'सिस्टिम आफ संस्कृत-ग्रामर।'

† मुनीन्द्रमभिवन्द्याहं पाल्यकीर्तिं जिनेश्वरम्। मन्दबुद्धयनुरोधेन प्रक्रियासंग्रहं ब्रुवे॥

वैयाकरण पाल्यकीर्तिको नमस्कार किया है।* शाकटायनकी प्रक्रिया बनाते समय यह सम्भव नहीं कि अभयचन्द्र उसके मूल कर्त्ताको छोड़कर अन्य किसी वैयाकरणको नमस्कार करते। इससे भी शाकटायनका वास्तव नाम पाल्यकीर्ति निश्चित होता है।

शाकटायन या शब्दानुशासन

स्वयं ग्रन्थकर्त्ताने और टीकाकारोंने भी इस व्याकरणका नाम 'शब्दानुशासन' बतलाया है। शाकटायन नाम तो पीछे प्रसिद्ध हुआ जान पड़ता है। जिस तरह कवियोंमें कालिदासकी अधिक प्रसिद्धि होनेके कारण पीछेके अनेक कवि कालिदास कहलाने लगे, उसी तरह बहुत बड़े वैयाकरण होने के कारण लोग पाल्यकातिको भी शाकटायनाचार्य कहने लगे और उनके व्याकरणको शाकटायन।

वैदिक शाकटायन प्राचीन है

जब सन् १८९३ में मि० गुस्तव आपर्टने 'शाकटायन-प्रक्रियासंग्रह' प्रकाशित किया, तब उन्होंने उसकी भूमिकामें बतलाया कि ये वही शाकटायन हैं जिनका उल्लेख पाणिनिने किया है और इसके प्रमाणमें दो-चार सूत्र ऐसे भी पेश कर दिये जो वैदिक शाकटायनके उन सूत्रोंसे मिलते-जुलते थे जिनकी चर्चा पाणिनिने की है और अन्तमें यह भी कहा कि ये शाकटायन जैन थे। परन्तु जब उनके कथनपर गहराईसे विचार किया तब वह निस्सार साबित हुआ और अब तो उसपर कोई भी विश्वास नहीं करता है।

शाकटायन यापनीय थे

शाकटायन या पाल्यकीर्ति किस सम्प्रदायके थे पहले इस विषयमें काफी मत-भेद रहा। दिगम्बर सम्प्रदायके लोग पहले उन्हें अपने सम्प्रदायका मानते रहे, क्योंकि उनके यहाँ उनके व्याकरणका काफी प्रचार था और मुनि दयापाल आदि दिगम्बर विद्वानोंने उसपर टीकाग्रन्थ भी लिखे थे। उसके बाद स्व० डाक्टर के० बी० पाठक आदिने श्वेताम्बर बतलाया क्योंकि शाकटायन-सूत्रोंमें आवश्यकनिर्युक्ति, छेद-सूत्र, कालिक-सूत्र आदि श्वेताम्बरमान्य ग्रन्थोंका आदरपूर्वक उल्लेख किया गया है। परन्तु अब यह बिल्कुल निश्चित हो चुका है कि वे इन दोनों सम्प्रदायोंसे पृथक् तीसरे यापनीय सम्प्रदायके थे, जो उक्त दोनों सम्प्रदायोंके बीचकी एक कड़ी था और अब नष्ट हो चुका है। क्योंकि—

१ विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिके मलयगिरि नामक श्वेताम्बराचार्यने नन्दिसूत्रकी टीकामें उन्हें यापनीय यतियोंका अग्रणी लिखा है।†

---

* मुनींद्रमभिवन्द्याहं पाल्यकीर्तिं जिनेश्वरम्। मन्दबुद्धयनुरोधेन प्रक्रियासंग्रहं ब्रुवे॥

† शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणी स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तावादौ भगवतः स्तुतिमेवमाह 'श्रीवीरममृतं ज्योतिर्नत्वादि सर्ववेधसाम्।' अत्र च न्यासकृतव्याख्या—सर्ववेधसां सर्वज्ञानां सकल-शास्त्रानुगतपरिज्ञानानां आदि प्रभवं प्रथममुत्पत्तिकारणमिति—नन्दिसूत्र पृ० २२।

२ यापनीय सम्प्रदाय श्वेताम्बरोंके समान स्त्रियोंका उसी भवमें मोक्ष होना और केवलियोंका आहार करना मानता था जो दिगम्बर सम्प्रदायके सिद्धान्तोंसे विरुद्ध है। इन दोनों विषयोंपर शाकटायनका बनाया हुआ 'स्त्रीनिर्वाण-केवलिभुक्तिप्रकरण' नामका एक छोटा-सा ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है और वह प्रकाशित भी हो चुका है।* उसमें स्त्रीमुक्तिपर ५५ और केवलिभुक्तिपर ३४ कारिकायें हैं। इनमें वे सब युक्तियाँ दी गई हैं जो इन बातोंको माननेवालोंकी ओरसे दिगम्बरों के प्रति उपस्थित की जाती हैं। इसका कुछ अंश इस प्रकार है :—

प्रारम्भ—प्रणिपत्य भुक्तिमुक्तिप्रदममलं धर्ममर्हतो दिशतः।
वक्ष्ये स्त्रीनिर्वाणं केवलिभुक्तिं च संक्षेपात् ॥१॥
अस्ति स्त्रीनिर्वाणं पुंवद्यदविकलहेतुकं स्त्रीषु।
न विरुद्ध्यते हि रत्नत्रयसन्पन्निवृतेर्हेतु ॥२॥
रत्नत्रयं विरुद्धं स्त्रीत्वेन यथामरादिभावेन।
इति वाङ्मात्रं नात्र प्रमाणमाप्तागमोऽन्यद्वा ॥३॥

अन्त— विग्रहगतिमापन्नाद्यागमवचनं सर्वमेतस्मिन्।
मुक्तिं ब्रवीति तस्माद्द्रष्टव्या केवलिनि भुक्तिः ॥३२॥
नानाभोगाहारो निरन्तरः सो विशेषतो नाभूत (?)
युक्त्या भेदेनाङ्गस्थितिपुष्टिक्षुच्छमास्तेन ॥३३॥
नास्य विशिष्टस्य स्थितिरभविष्यत्तेन सविशिष्टेन।
यद्यभविष्यदिहैषां सालीतरभोजनेनेव ॥३४॥

इति स्त्रीनिर्वाण-केवलिभुक्तिप्रकरणं भगवदाचार्यशाकटायनकृदन्तपादानामिति।

पन्द्रहवीं शताब्दिमें एक विद्वान्ने अपने समयमें उपलब्ध जैनग्रन्थोंकी एक सूची बड़ी खोजके साथ संस्कृतमें लिखी थी। उसमें कौन ग्रन्थ, किस भाषा में, किसने, किस समय, किस विषयपर, कितने परिमाणका लिखा है इसका संक्षिप्त विवरण जहाँ तक उपलब्ध हो सका, दिया है। इस सूचीका नाम बृहट्टिप्पणिका है। उसमें भी इस प्रकरण का विवरण इस प्रकार दिया है—"केवलिभुक्तिस्त्रीमुक्तिप्रकरणम्। शब्दानुशासनकृतशाकटायनाचार्यकृतं तत्संग्रह-श्लोकाश्च† ९४।"

वादिवेताल शान्तिसूरिने उत्तराध्ययन टीकाके २६ वें अध्यायमें, रत्नप्रभने रत्नाकरावतारिकामें और यशोविजय उपाध्यायने अध्यात्ममतपरीक्षा तथा शास्त्रवार्तासमुच्चयमें इस प्रकरणकी अनेक

* देखो 'जैनसाहित्यसंशोधक' भाग २, अंक ३।
† यह संख्या अनुष्टुप् श्लोकोंके हिसाबसे दी है।

कारिकायें उद्धृत की हैं। इसी तरह आचाय प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्री-मुक्ति और केवलि-भुक्तिका पूर्वपक्ष इसी प्रकरणसे लिया है और इसकी एक-एक दलीलका खण्डन किया है।

३ शाकटायनकी अमोघवृत्तिमें, छेदसूत्र, निर्युक्ति, कालिक सूत्र आदि ग्रन्थोंका जिस तरह उल्लेख* किया है उससे ऐसा मालूम होता है कि उनके सम्प्रदायमें इन ग्रन्थोंके पठन-पाठनका प्रचार था और ये ग्रन्थ दिगम्बर-सम्प्रदायके नहीं हैं जब कि यापनीयसंघ इन ग्रन्थोंको मानता था।

४ अमोघवृत्तिमें 'उपसर्वगुप्तं व्याख्यातारः' कहकर शाकटायनने सर्वगुप्त आचार्यको सबसे बड़ा व्याख्याता बतलाया है और ये सर्वगुप्त वही जान पड़ते हैं जिनके चरणोंके समीप बैठकर आराधनाके कर्त्ता शिवार्यने सूत्र और अर्थको अच्छी तरह समझा था। और चूँकि शिवार्य भी बहुत करके यापनीय सम्प्रदायके थे अतएव उनके गुरुको श्रेष्ठ व्याख्याता बतलानेवाले शाकटायन भी यापनीय होंगे।

५ शाकटायनको 'श्रुतकेलिदेशीयाचार्य' लिखा है और चिन्तामणि-टीकाके कर्त्ता यत्नवर्माने तो उन्हें 'सकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान्' माना है। परन्तु दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुसार वीर-निर्वाण ६८३ वर्षके लगभग ही श्रुतकेवलियों या एकदेशश्रुतकेवलियोंका विच्छेद हो गया था। अतएव उनका श्रुतकेवलिदेशीय होना यापनीयसंघकी मान्यताके अनुसार ही ठीक बैठ सकता है।

शाकटायन की रचनायें

शाकटायनकी इस समय तीन ही रचनायें उपलब्ध हैं, शब्दानुशासनका मूल सूत्रपाठ, उसकी अमोघवृत्ति और ऊपर जिसका जिक्र आ चुका है, वह 'स्त्रीमुक्तिकेवलिभुक्तिप्रकरण'। इनके सिवाय संस्कृतके सुप्रसिद्ध आचार्य राजशेखरने अपनी काव्य-मीमांसामें पाल्यकीर्तिके मतका उल्लेख करते हुए लिखा है—"यथा तथा वास्तु वस्तुनो रूपं वक्तृप्रकृतिविशेषायत्तातु रसवत्ता। तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते, इति पाल्यकीर्तिः।" इससे मालूम होता है कि पाल्यकीर्ति या शाकटायनका कोई साहित्य-विषयक ग्रन्थ भी था जो अभी तक कहीं मिला नहीं है। क्या आश्चर्य जो उनके और भी ग्रन्थ हों, जिन्हें हम नहीं जानते। 'स्त्रीमुक्ति-केवलिभुक्ति' प्रकरणसे मालूम होता है कि वे बड़े भारी तार्किक और सिद्धान्तज्ञ भी थे।

---

* देखो पृ० ४४ में 'यापनीय साहित्यकी खोज' शीर्षक लेखकी टिप्पणियाँ।

शब्दानुशासन की टीकायें

शाकटायनके शब्दानुशासनपर अब तक नीचे लिखी सात टीकायें प्राप्त हुई है –

१ अमोघवृत्ति—स्वयं सूत्रकारकी ही लिखी हुई है और यही उसकी सबसे बड़ी टीका है। राष्ट्रकूटनरेश अमोघवर्षको लक्ष्य करके उसका यह नामकरण किया गया था। क्योंकि अमोघवर्षके समयमें ही शाकटायन हुए हैं जैसा कि आगे चलकर बतलाया जायगा।

२ शाकटायन-न्यास—यह अमोघवृत्तिपर प्रभाचन्द्राचार्यकृत न्यास है।* इस ग्रन्थके सिर्फ दो अध्याय उपलब्ध हैं। परन्तु उनसे टीकाकारके सम्बन्धमें कुछ विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यके खयालमें ये प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र आदिके कर्त्तासे भिन्न कोई दूसरे ही प्रभाचन्द्र हैं। संभव है कि वे यापनीय संघके ही हों।

३ चिन्तामणि टीका (लघीयसी वृत्ति)—यह अमोघवृत्तिको ही संक्षिप्त करके रची गई है। इसके कर्त्ताका नाम यक्षवर्मा है। इनके विषयमें और कुछ मालूम नहीं है। ये कोई गृहस्थ विद्वान् थे।

४ मणिप्रकाशिका—'मणि' अर्थात् 'चिन्तामणि' को प्रकाशित करनेवाली टीका। इसके कर्ता अजितसेनाचार्य हैं।

५ प्रक्रिया-संग्रह—यह पाणिनि की सिद्धान्तकौमुदीके ढंगकी प्रक्रिया-टीका है। इसके कर्ता अभयचन्द्राचार्य हैं।

६ शाकटायन टीका—भावसेन त्रैविद्यदेवकृत। कातन्त्रकी रूपमाला टीकाके कर्त्ता भी यही मालूम होते हैं। ये 'वादिपर्वतवज्र' कहलाते थे। इनका बनाया हुआ एक 'विश्व-तत्त्वप्रकाश' नामका ग्रन्थ भी उपलब्ध है।

७ रूपसिद्धि—यह लघुकौमुदीके समान छोटी टीका है। इसके कर्त्ता दयापाल मुनि हैं।† ये द्रविड़संघके थे। इनके गुरुका नाम मतिसागर था। ये पार्श्वनाथ-चरित और न्याय-विनिश्चय आदिके कर्त्ता वादिराजसूरिके सधर्मा थे। पार्श्वनाथचरितकी रचना श० सं० ९४७ (वि० सं० १०५२) में हुई थी, अतएव इनका भी यही समय समझना चाहिए। यह टीका प्रकाशित हो चुकी है।

---

* शब्दानां शासनाख्यस्य शास्त्रस्यान्वर्थनामतः।
प्रसिद्धस्य महामोघवृत्तेरपि विशेषतः।
सूत्राणां च विवृतिर्विख्याते (?) च यथामतिः।
ग्रन्थस्यास्य च न्यासेति (?) क्रियते नाम नामतः॥

† हितैषिणां यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हित-रूपसिद्धिः।
वन्द्यो दयापालमुनिः स वाचा सिद्धस्सताम्मूर्द्धनि यः प्रभावैः॥१५॥
—श्रवणबेल्गोलका ५४ वाँ शिलालेख

अमोघवृत्ति स्वोपज्ञ है

अमोघवृत्ति स्वयं शाकटायन या पाल्यकीर्तिकी है, इसे स्व० डा० के० बी० पाठकने बहुत अच्छी तरह प्रतिपादित किया है। वे कहते हैं—

श्रीवीरममृतं ज्योतिर्नत्वादिं सर्ववेधसां शब्दानुशासनस्येयममोघावृत्तिरुच्यते।

अविघ्नेनेष्टप्रसिद्धयर्थं मंगलमारभ्यते—

नमः श्रीवर्द्धमानाय प्रबुद्धाशेषवस्तवे। येन शब्दार्थसम्बन्धाः सार्वेण सुनिरूपिताः॥

शब्दो वाचकः अर्थो वाच्यः तयोः सम्बन्धी योग्यता अथवा शब्दो आगमः अर्थः प्रयोजनं। अभ्युदयो निःश्रेयसं च। तयोः सम्बन्ध उपायोपेयभावः। ते येन सर्वसत्त्वहितेन सता तत्त्वत प्रज्ञापिताः तस्मै परमार्हत्यमहिम्ना विराजमानाय भगवते वर्द्धमानाय षडपि द्रव्याणि अशेषाणि अनन्तपर्यायरूपाणि साकल्येन साक्षात्कुर्वते नमः कुर्वे इत्युपस्कारः। एवं कृतमंगल-रक्षाविधानः, परिपूर्णमल्पग्रंथं लघूपायं शब्दानुशासनशास्त्रमिदं महाश्रमणसंघाधिपतिर्भगवान्-चार्यः शाकटायनः प्रारभते। शब्दार्थज्ञानपूर्वकं च सन्मार्गानुष्ठानं। अइउण्। ऋलृक्। एओङ्। ... हल्॥१३॥ इति वर्णसमाम्नायः क्रमानुबन्धोपादानः प्रत्याहारयन् शास्त्रस्य लाघवार्थः। सामान्याश्रयणाद्दीर्घप्लुतानुनासिकानां ग्रहणं। —अमोघवृत्ति

श्रियं क्रियाद्वः सर्वज्ञानज्योतिरनीश्वरीं।
विश्वं प्रकाशयच्चिन्तामणिश्चिन्तार्थसाधनः॥ १॥
नमस्तमः प्रभावाभिभूतभूद्योतहेतवे।
लोकोपकारिणे शब्दब्रह्मणे द्वादशात्मने॥ २॥
स्वस्ति श्रीसकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान्।
महाश्रमणसंघाधिपतिर्यः शाकटायनः॥ ३॥
एकः शब्दाम्बुधिं बुद्धिमन्दरेण प्रमथ्य यः।
सयशःश्रीः समुद्धध्रे विश्वं व्याकरणामृतम्॥ ४॥
स्वल्पग्रन्थं सुखोपायं सम्पूर्णं यदुपक्रमं।
शब्दानुशासनं सार्वमर्हच्छासनवत्परम्॥ ५॥
इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक्।
संख्यातं नोपसंख्यानं यस्य शब्दानुशासने॥ ६॥
तस्यातिमहतीं वृत्तिं संहृत्येयं लघीयसी।
सम्पूर्णलक्षणा वृत्तिर्वक्ष्यते यत्नवर्मणा॥ ७॥
ग्रन्थविस्तरभीरूणां सुकुमारधियामयं।
शुश्रूषादिगुणान्कर्तुं शास्त्रे संहरणोद्यमः॥ ८॥

शब्दानुशासनस्यान्वर्थायाश्चिन्तामणेरिदं ।
वृत्तेर्ग्रन्थप्रमाणं (हि) षट्सहस्रं निरूपितं ॥ ९ ॥
इन्द्रचन्द्रादिभिः शाब्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणं ।
तदिहास्ति समस्तं च यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥ १० ॥
गणधातुपाठयोगेण धातून् लिंगानुशासने लिङ्गगतं ।
औणादिकानुणादौ शेषं निःशेषमत्र वृत्तौ विद्यात् ॥ ११ ॥
बालावबोधजनोप्यस्या वृत्तेरभ्यासवृत्तित ।
समस्तं वाङ्मयं वेत्ति वर्षैर्नवभिर्न निश्चयात् ॥ १२ ॥

तत्र सूत्रस्यादावयं मङ्गलश्लोकः । नमः श्रीवर्द्धमानायेत्यादि । शब्दार्थसम्बन्धार्था वाचकवाच्ययोग्यता अथवा आगमप्रयोजनोपायोपेयभावाः ते येन सर्वसत्त्वहितेन तत्त्वतः प्रज्ञापिताः तस्मै श्रीमते महावीराय साक्षात्कृतसकलद्रव्याय नमः करोमीत्यध्याहारः । विघ्नप्रशमनार्थमर्हद्देवतानमस्कारं परममङ्गलमारभ्य भगवानाचार्यः शाकटायनः शब्दानुशासनं शास्त्रमिदं प्रारभते ।

धर्मार्थकाममोक्षेषु तत्त्वार्थावगतिर्यतः । शब्दार्थज्ञानपूर्वेति वेद्यं व्याकरणं बुधैः ॥

अ इ उ ण् । ऋलृक् । ए ओ ङ् । ... हल् इति वर्णसमाम्नायः क्रमानुबाधोपादानः प्रत्याहारयन् शास्त्रस्य लाघवार्थः । सामान्यग्रहणाद्दीर्घप्लुतानुनासिकानां ग्रहणम् ।

—चिन्तामणि टीका

चिन्तामणिके कर्त्ता यक्षवर्माने उपरिलिखित सातवें श्लोकमें कहा है कि "यह उसकी छोटी वृत्ति है जिसे मैंने उसकी (शाकटायनकी) बहुत बड़ी वृत्तिसे संक्षिप्त करके बनाया है ।" वे यह नहीं कहते कि यह मेरी स्वतन्त्र रचना है। अब यह देखना चाहिये कि वह अति महती या बहुत बड़ी वृत्ति कौन-सी है जिसको संक्षिप्त करके यह लिखी गई है। विचार करके देखा जाय तो मालूम होगा कि वह वृत्ति और कोई नहीं, अमोघवृत्ति ही है। क्योंकि एक तो उपलब्ध वृत्तियोंमें वही सबसे बड़ी है। दूसरे ऊपर लिखी हुई दोनों प्रशस्तियोंके कुछ भाग समान है, जो यह बतलाते हैं कि एक वृत्ति दूसरीको देखकर या उसीको संक्षेप करके बनाई गई है। 'इति वर्णसमाम्नायः' आदि पाठ दोनोंके मिलते-जुलते हुए हैं। अन्तर केवल यह है कि जहाँ अमोघवृत्तिमें 'सामान्याश्रयणात्' लिखा गया है वहाँ चिन्तामणिमें 'सामान्यग्रहणात्' है। तीसरे यक्षवर्माने जिस मंगलश्लोककी 'नमः श्रीवर्द्धमानायेत्यादि' प्रतीक दी है वह अमोघवृत्तिमें ही मिलती है। मूलका या अन्य किसी वृत्तिका यह श्लोक नहीं है। इस श्लोकके उत्तरार्द्धकी व्याख्या भी अमोघवृत्तिसे थोड़ा बहुत इधर-उधर करके नकल कर दी गई है। इन सब बातोंसे यह निश्चय हो जाता है कि चिन्तामणि-टीका अमोघवृत्तिसे पीछे बनी है और वह अमोघवृत्तिका ही संक्षेप है।

यक्षवर्माने अपनी टीका अमोघवृत्तिको ही कुछ फेर-फार करके बनाई है, यह बात दोनों टीकाओंका मिलान करनेसे अच्छी तरह समझमें आ जाती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

नामदुः १-१-१७ —मूल शाकटायनसूत्र

यन्नामधेयं संव्यवहाराय हठान्नियुज्यते देवदत्तादि तद्दु संज्ञं वा भवति। देवदत्तीया दैवदत्ताः। षडनयानाहुः सिद्धसेनीयाः सैद्धसेनाः। —अमोघवृत्ति

यन्नामधेयं संव्यवहाराय हठान्नियुज्यते देवदत्तादि तद्दु संज्ञं वा भवति। देवदत्तीयो दैवदत्तः। —चिन्तामणिटीका

कहीं-कहींपर तो यक्षवर्माने अमोघवृत्ति ज्योंकी त्यों नकलभर कर दी है। जैसे—ख्याते दृश्ये ४-३-२०७। —मूल

भूतेऽनद्यतने ख्याते लोकविज्ञाते दृश्ये प्रयोक्तुः शक्यदर्शने वर्तमानाद्धातोर्लङ्प्रत्ययो भवति। लिडपवाद। अरुणद्देवः पाण्डयम्। अदहदमोघवर्षोरातीन्। ख्यात इति किम्? चकार कटं देवदत्तः। दृश्य इति किम्? जघान कंसं किल वासुदेवः। अनद्यतने इति किम्? उदगादादित्यः। —अमोघवृत्ति

उक्त सूत्रपर चिन्तामणिकी टीका भी इसी प्रकार है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि अमोघमें जहाँ 'लङ् प्रत्ययो' लिखा है वहाँ चिन्तामणिमें केवल 'लङ्' लिखा है, 'प्रत्यय' छोड़ दिया है।

उपर्युक्त बातोंसे यह तो सिद्ध हो गया कि चिन्तामणि अमोघवृत्तिसे पीछे बनी है और उसीको संकोच करके बनाई गई है। अब यह देखना है कि अमोघवृत्तिका कर्त्ता कौन है? चिन्तामणि टीकाके पूर्व ३-४-५-६-७ श्लोकोंका अर्थ अच्छी तरह लगानेसे इसका भी निश्चय हो जायगा।

३—जिन्होंने सकलज्ञानरूपी साम्राज्य-पदको प्राप्त किया है और जो बड़े भारी साधु-समाजके अगुआ थे, वे शाकटायनाचार्य जयवंत हों।

४—जिन अकेलेने बुद्धिरूप मन्दराचलसे शब्द-समुद्रका मंथन करके, उसमेंसे यशोरूप लक्ष्मीके साथ-साथ सम्पूर्ण व्याकरणोंका साररूप यह अमृत निकाला,

५—जिनका रचा हुआ शब्दानुशासन आर्हत धर्मकी तरह स्वल्प-ग्रन्थ (प्रमाणमें थोड़ा), सुख-साध्य और सम्पूर्ण है,

६—जिन (शाकटायन मुनि) के शब्दानुशासनमें इष्टि, उपसंख्यान, वक्तव्य, न वक्तव्य आदिका झगड़ा नहीं है.

७—उनकी (तस्य शाकटायनस्य) बड़ी भारी वृत्ति (अमोघवृत्ति) को संकोच करके यह छोटी-सी परन्तु सम्पूर्ण लक्षणोंवाली वृत्ति मैं (यक्षवर्मा) कहूँगा।

ध्यान रखना चाहिए कि ये पाँचों श्लोक शाकटायनका वर्णन करनेवाले हैं। इनमेंके 'यः' (श्लोक ३-४), यदुपक्रम शब्दका 'यत्' (श्लोक ५) और 'यस्य' (श्लोक ६) ये तीनों सम्बन्धद्योतक सर्वनाम सातवें श्लोकके 'तस्य' शब्दसे सम्बन्ध रखते हैं। यह 'तस्य' शब्द कर्तरि षष्ठीमें बनाया गया है और यह सातवें पद्यका मुख्य वाक्यांश है। अन्वय इस तरह होता है--'यदुपक्रमं शब्दानुशासनं सार्वं तस्य महतीं वृत्तिं संहृत्य इयं लघीयसी वृत्तिर्वक्ष्यते यत्नवर्मणा' अर्थात् जिसका बनाया हुआ सर्वोपयोगी शब्दानुशासन नामक व्याकरण है, उसीकी बनाई हुई बहुत बड़ी टीकाको संकोचकर मैं यह छोटी-सी टीका बनाता हूँ। इससे निश्चय हो गया कि मूल शब्दानुशासन और उसकी अमोघवृत्ति टीका ये दोनों ग्रन्थ एक ही शाकटायनने बनाये हैं।

मि० राइस साहबने इसके लिए चिदानन्द कविके 'मुनिवंशाभ्युदय' नामक कन्नड काव्यसे एक प्रमाण दिया है। यह कवि मैसूरके चिक्कदेवराजाके समयमें (ई० सन् १६७२-१७०४) हुआ है और 'चारुकीर्ति पंडितदेव' इसकी उपाधि (?) थी। कविके कन्नड़ श्लोकोंका अर्थ यह है--

"उस मुनिने अपने बुद्धिरूप मन्दराचलसे श्रुतरूप समुद्रका मन्थन कर यशके साथ व्याकरणरूप उत्तम अमृत निकाला। शाकटायनने उत्कृष्ट शब्दानुशासनको बना लेनेके बाद अमोघवृत्ति नामकी टीका—जिसे बड़ी शाकटायन कहते हैं—बनाई जिसका कि परिमाण १८००० है। जगत्प्रसिद्ध शाकटायन मुनिने व्याकरणके सूत्र और साथ ही पूरी वृत्ति भी बनाकर एक प्रकारका पुण्य सम्पादन किया। एक बार अविद्धकर्ण सिद्धान्तचक्रवर्ती पद्मनन्दिने मुनियोंके मध्य पूजित शाकटायनको मन्दर पर्वतके समान धीर विशेषण से विभूषित किया।"

गणरत्नमहोदधिके कर्त्ता वर्धमान कवि—जो विक्रम सं० ११९७ में हुए हैं—अपने ग्रन्थमें शाकटायनके नामसे जिन-जिन बातोंको उद्धृत करते हैं वे अमोघवृत्तिमें ही मिलती हैं, मूलसूत्रोंमें नहीं। इससे मालूम होता है कि वर्धमान जानते थे कि अमोघवृत्ति शाकटायनकी ही है और इसीलिए उन्होंने उसके उदाहरण शाकटायनके नामसे देना अनुचित न समझा।

शाकटायनस्तु कर्णे टिरिटिरिः कर्णे चुरु-चुरुरित्याह।

—गणरत्न पृष्ठ ८२ और अमोघवृत्ति २।१।५७

शाकटायनस्तु अद्य पंचमी अद्य द्वितीयेत्याह।

—गणरत्न पृ० ९०, अमोघवृत्ति २।१।७९

इसके सिवाय नन्दिसूत्रकी मलयगिरिकृत टीकाका उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है जिसमें टीकाकर्त्ताने 'श्रीवीरममृतं ज्योतिः' आदि मंगलाचरणको शाकटायनकी स्वोपज्ञवृत्तिका बतलाया है। इससे सिद्ध है कि अमोघवृत्ति स्वयं शाकटायनकी बनाई हुई है।

रचना-काल

ऊपर 'ख्याते दृश्ये' सूत्रकी जो अमोघवृत्ति दी है, उसमें एक उदाहरण है—"अदहदमोघवर्षोऽरातीन्।"* अर्थात् अमोघवर्षने शत्रुओंको जला दिया। इस उदाहरणमें ग्रन्थकर्त्ताने अमोघवर्ष (प्रथम) की अपने शत्रुओंपर विजय पानेकी जिस घटनाका उल्लेख किया है, ठीक उसीका जिक्र शकसंवत् ८३२ (वि० सं० ९६७) के एक राष्ट्रकूट-शिलालेखमें† इन शब्दोंमें किया है—"भूपालान् कण्टकामान् वेष्टयित्वा ददाह।" और इसका भी अर्थ लगभग वही है; अमोघवर्षने उन राजाओंको घेरा और जला दिया जो उससे एकाएक विरुद्ध हो गये थे। उक्त शिलालेख अमोघवर्षके बहुत पीछे लिखा गया था, इसलिए उसमें परोक्षार्थवाली 'ददाह' क्रिया दी है। उसके लेखकके लिए उक्त घटनाका स्वयं देखना अशक्य था। परन्तु अमोघवृत्तिके कर्त्ताके लिए शक्य था, इसलिए उसने 'अदहत्' यह लङ् प्रत्ययकी क्रिया दी है। अर्थात् यह उसके समक्षकी घटना होगी।

बगमुराके दान-पत्रमें‡ जो श० सं० ७८९ (वि० सं० ९२४) का लिखा हुआ है इस घटनाका उल्लेख है। उसका सारांश यह है कि गुजरातके माण्डलिक राजा एकाएक बिगड़ खड़े हुए और उन्होंने अमोघवर्षके विरुद्ध हथियार उठाये, तब उसने उनपर चढ़ाई कर दी और उन्हें तहस-नहस कर डाला। इस युद्धमें ध्रुव घायल होकर मारा गया।

अमोघवर्ष श० सं० ७३६ (वि० सं० ७७१) में सिंहासनपर बैठे थे और यह दानपत्र श० सं० ७८९ (वि० सं० ८२४) का है। अतः सिद्ध है कि अमोघवृत्ति ७३६ और ७८९ के बीच किसी समय लिखी गई है और यही पाल्यकीर्ति या शाकटायनका समय है।

महाराजा अमोघवर्ष (प्रथम) जैन विद्वानोंके बड़े भारी आश्रयदाता थे। भगवज्जिनसेनको वे अपना गुरु मानते थे और अन्तमें तो उन्होंने शायद जैनधर्मके विवेकसे राज्यका त्याग भी कर दिया था। अतएव यदि वैयाकरण शाकटायनने उनके जैन धर्म और साहित्यिक प्रेमी होने के नाते अपनी वृत्तिका नाम अमोघवृत्ति रक्खा हो तो कोई आश्चर्य नहीं और फिर 'अदहदमोघवर्षोऽरातीन्' उदाहरणसे तो अमोघवृत्तिके कर्त्ताकी समकालीनता स्पष्ट ही हो रही है।

शाकटायनके पूर्ववर्ती आचार्य

शाकटायनने अपनी पूर्व गुरु-परम्पराका कोई उल्लेख नहीं किया है, यहाँ तक कि अपने

* इसी सूत्रकी वृत्तिमें एक उदाहरण और है—'अरुणद्देवः पाण्ड्यम्' अर्थात् देवने पाण्ड्यनरेश को रोका। अमोघवर्षके शर्वदेव, तुंगदेव, आदि अनेक नाम है। इस देवसे भी उन्हींका मतलब जान पड़ता है। उन्होंने इसके अनुसार किसी पाण्ड्य राजाको रोका या कैद कर लिया होगा।

† एपिग्राफिआ इंडिका जिल्द १. पृ० ५४। ३

‡ विवेकाख्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः॥—प्रश्नोत्तररत्नमाला

गुरुका नाम भी नहीं दिया है। प्रकरण और सूत्र-ग्रन्थमें तो खैर इसके लिए स्थान नहीं था, पर अमोघवृत्तिमें गुंजाइश थी और संभव है उसमें प्रशस्ति रही भी हो; परन्तु जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमें शायद प्रति-लिपिकारोंकी कृपा से वह नहीं रही है।

अमोघवर्ष (प्रथम) के पिता प्रभूतवर्ष या गोविन्दराज तृतीयका जो दान-पत्र कदंब (मैसूर) में मिला है वह शक सं० ७७५ का अर्थात् अमोघवर्षके राजा होनेसे एक वर्ष पहलेका है। उसमें अर्ककीर्ति मुनिको मान्यपुर ग्रामके शिलाग्राम जिनेन्द्र-भवनके लिए एक गाँव दान करनेका उल्लेख है। अर्ककीर्ति यापनीय-नन्दिसंघ-पुंनागवृक्षमूलगणके थे। अर्ककीर्तिके गुरुका नाम विजयकीर्ति और प्रगुरुका श्रीकीर्ति था। बहुत संभव है कि पाल्यकीर्ति (शाकटायन) इसी परम्पराके हों, और आश्चर्य नहीं जो अर्ककीर्तिके ही शिष्य या उनके सधर्मा हों

शाकटायन सूत्र-पाठमें इन्द्र, सिद्धनन्दि और आर्यवज्र इन तीन पूर्वाचार्योंका मत दिया है। वे तीनों दिगम्बर सम्प्रदायके नहीं मालूम होते। या तो ये यापनीय सम्प्रदायके ही होंगे या फिर श्वेताम्बर सम्प्रदायके।

इन्द्र—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में पाँच तरह के पाँच मिथ्यादृष्टियोंके उदाहरण देते हुए लिखा है—एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बम्ह तावसो विणओ।

इंदो वि य संसइयो मक्कडिओ चेव अण्णाणी ॥१६।

अर्थात् बौद्ध एकान्ती, ब्रह्म (याज्ञिक) विपरीत, तापस वैनयिक, इन्द्र संशयी और मस्करि (आजीवक) अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंके उदाहरण हैं। इनमेंसे इन्द्रको टीकाकारने श्वेताम्बर गुरु बतलाया है। परन्तु इन्द्र नामके श्वेताम्बराचार्यका अभीतक कोई उल्लेख नहीं मिला है। बहुत सम्भव है कि वे यापनीय ही हों और श्वेताम्बरतुल्य होनेसे श्वेताम्बर कह दिये गये हों। द्विकोटिगत ज्ञानको संशय कहते हैं, जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें घटित नहीं हो हो सकता।[१] परन्तु यापनीयोंको कुछ श्वेताम्बर और दिगम्बर होनेके कारण एक तरहसे संशय-मिथ्यादृष्टि कहा जा सकता है। बहुत सम्भव है कि शाकटायन-सूत्रकारने इन्हीं इन्द्र गुरुका उल्लेख किया हो और यापनीय सम्प्रदायके कोई प्रसिद्ध आचार्य रहे हों।

सिद्धनन्दि—इनके विषयमें हम कुछ नहीं जानते; परन्तु ये भी यापनीय ही मालूम होते हैं। नन्द्यन्त नामधारी आचार्य यापनीयोंमें भी बहुत हुए हैं—चन्द्रनन्दि, मित्रनन्दि, कीर्तिनन्दि, कुमारनन्दि आदि।

आर्यवज्र—श्वेताम्बर सम्प्रदायकी कल्पसूत्र-स्थविरावलीमें अज्ज वइर (आय वज्र) नामके एक आचार्यका नाम मिलता है जो आर्य सिंहगिरिके शिष्य और गोतम गोत्रके थे। तपागच्छ-पट्टावलीके अनुसार दशपूर्वधारियोंमें उनका गणना होती है और वीर नि० सं० ५८४ में उनका स्वर्गवास हुआ था। संभव है, शाकटायनने इन्हींका उल्लेख किया हो। सम्प्रदाय-भेद होनेके पहले होनेके कारण तीनों सम्प्रदायवाले इनका उल्लेख कर सकते हैं। तिलोयपण्णतिके वज्रयश नामक अन्तिम प्रज्ञाश्रमण भी शायद यही हों।

१ देखो दर्शनसार-विवेचना।

जैन-सिद्धान्त-भवन और तत्सम्बन्धी कार्यप्रणाली का दर्शन

[ले०—श्रीयुत बाबू पद्मराज जैन, कलकत्ता]

मेरा जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा के साथ बहुत प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है। मेरे बाल्य-जीवन का कार्यक्षेत्र यह भवन ही था। श्रद्धेय स्वर्गीय बा० देवकुमार जी और मेरे परम मित्र बाबू करोड़ीचन्द्रजी के सहयोग से मुझे बहुत-से जैन तीर्थ-क्षेत्र और अन्यान्य ऐतिहासिक महत्वपूर्ण क्षेत्रों का दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उस आनन्दमय अवसर का जब कभी स्मरण होता है तो मेरा हृदय गद्‌गद् हो उठता है।

दिगम्बर जैन महासभा का सभापतित्व, मथुरा का महत्वपूर्ण अधिवेशन, कानपुर और हाथरस की प्राण-प्रतिष्ठाएँ, बड़े बड़े मेलों में सैद्धान्तिक और साहित्यिक अखाड़े और मल्लयुद्ध का दृश्य आज भी प्राचीन स्मृतिपट पर अंकित चतुर शिल्पी द्वारा चित्रित, मृत-घटनाओं का प्रतिविम्ब उपस्थित करता है। कलकत्ते के बाबू पूरणचन्दजी नाहर के मकान में बैठकर जब 'भास्कर' के प्रकाशन का अन्तिम निर्णय हुआ था, वह शुभ घड़ी आज भी मुझे अच्छी तरह याद हैं। मेरा हृदय और हाथ-पावँ काँपते थे। मैं कहता था, "करोड़ीचन्द ! तुम मेरे अयोग्य एवं निर्बल कन्धे पर हिमालय का भार रख रहे हो, मुझे कुछ दिखाई नहीं देता, परिणाम क्या होगा !"

हमारे सामने केवल निःस्वार्थ सेवा, आत्मत्याग और कठिनतम घोर अन्धकारमय कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलना ही था। जैन इतिहास गिरिकन्दराओं की निविड़ अन्धकारमय गुफाओं में आच्छादित पड़ा था। उसीकी खोज का भार मुझ सरीखे अनभिज्ञ और ऐतिहासिक ज्ञानशून्य व्यक्ति के सिर पर लादा गया। मैंने भी यह समझकर स्वीकृति दे दी कि यदि मैं कहीं हास्यास्पद हुआ तो अपने ही पूज्यों के सामने होना पड़ेगा। बा० करोड़ीचन्द्रजी ने और मैंने तीन महीने में प्रथम किरण की कुछ सामग्री एकत्र की। बा० करोड़ीचन्द्रजी के आरा चले जाने पर मैं अकेला अन्धकार में झूलने लगा और दूसरे दो महीने में किसी ने किसी तरह प्रथम किरण प्रकाशित कर ही दी। प्रथम किरण की प्रथम प्रति जब मैंने आरा भेजी, तो बधाई के तारों का ढेर लग गया। सबसे बड़ा उपहार स्वर्गवासी बा० देवकुमारजी और करोड़ीचन्द्रजी के हाथों का पुष्पहार पार्सल से आया था, यह आज मुझे याद है। मैंने कहा, समाज इस खोज का स्वागत करे अथवा न करे, देवकुमारजी और करोड़ीचन्द्रजी की बधाई मेरे सारे परिश्रम का फल है। मेरा हृदय आनन्द से नाचने लगा।

'भास्कर' की दूसरी किरण निकालने के समय आरे वाले पं० हरनाथजी द्विवेदी और कर्णाटक-निवासी पं० पांगलजी, और एक दूसरे साधारण लेखक की सहायता मुझे प्राप्त हुई। पहली किरण के प्रकाशन का फल शीघ्र ही देदीप्यमान सूर्य-चन्द्र की तरह जैन ऐतिहासिक आकाश में दिखाई दिया। इंगलैण्ड से निकलनेवाली 'ओरियन्टल हिस्ट्री सिरीज' के सम्पादक ने लिखा कि 'जैन पंडितों ने सम्राट् चन्द्रगुप्त को जैन प्रमाणित करने में जो अकाट्य और असंदिग्ध ऐतिहासिक प्रमाण एकत्र किये हैं, उनसे विचारों में आघात लगे विना नहीं रहता। यद्यपि चन्द्रगुप्त के जैन स्वीकार करने में कुछ समय सापेक्ष है, तो भी इन प्रमाणों के रहते अस्वीकार करना भी उतना ही कठिन है।"

हमलोग हिन्दू-महासभा के अधिवेशन पर भागलपुर आये हुए थे, मेरे साथ प्रधान साथियों में मनेपर निवासी, राजस्थान हिन्दू संगठन के प्रधान नेता श्री बा० दुर्गा प्रसाद जी का उल्लेख विशेष महत्त्व रखता है। कई दिनों तक सरकारी जेलों में रहकर जब हमलोग बहुत-से मित्रों के साथ ता० ५ जनवरी सन १९४२ को पटने आये, और पटने में कुछ आरे के भाइयों ने हमलोगों से हिन्दू-सभा के प्रचारार्थ आरा आने का आग्रह किया, तो वही 'जैन-सिद्धान्त-भवन', वही देवकुमारजो का 'देव-भवन', वही करोड़ीचन्द्रजी की कुटिया, और वयोवृद्ध बच्चू बाबू का कटाक्ष-निरीक्षण याद आकर हृदय हिलोरें लेने लगा। आज 'जैन-सिद्धान्त-भवन' एक भव्य, सुन्दर, रमणीक, स्थान में विराजमान है। आलमारियों में हिन्दी, संस्कृत, कन्नड, पाली, तामिल और अन्यान्य भाषाओं के मुद्रित, प्रकाशित, हस्त-लिखित, ताड़पत्र, भोजपत्र के अनेक गौरवमय ग्रन्थ नियमित रूप से सुसज्जित हैं—देखकर बड़ा ही आनन्द हुआ और मालूम पड़ने लगा कि आज भविष्य का आनन्दमय स्वप्न प्रत्यक्ष हो रहा है। इस आनन्द का किसी भी साहित्यिक भाषा से वर्णन नहीं हो सकता। पण्डित के० भुजबली शास्त्री बड़ी योग्यता के साथ भवन का संचालन कर रहे हैं। भवन द्वारा प्रकाशित, कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ वे मुझे अर्पण कर धन्य करना चाहते थे, परन्तु मैं कहाँ जाऊँगा, और अन्ताराष्ट्रीय परिस्थिति मुझे कहाँ रहने के लिए वाध्य करेगी, यह न जानते हुए शास्त्रीजी के उस अपूर्व दान को मैं कृपण की सम्पत्ति की तरह उन्हीं के पास सुरक्षित रख आया हूँ। केवल भास्कर का भाग ८, किरण २ पढ़ने के लिए साथ लेता आया, आरा से राजगृही तक पढ़ने और मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आज इसीलिए मैं इस किरण में प्रकाशित "अर्द्ध फालक-सम्प्रदाय" शीर्षक लेख की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। "जैन सम्प्रदाय का दो भागों में अर्थात् श्वेताम्बर व दिगम्बर में विभक्त हो जाना जैन इतिहास की एक विशेष महत्त्वपूर्ण घटना है, अस्तु, इस घटना पर भारत के अन्य इतिहासकार क्या प्रकाश डालते हैं और उसके साथ इस घटना का कितना सम्बन्ध है, यह सारी बातें इसके निर्णय में एक विशेष स्थान रखती हैं।"

आचार्य रत्ननन्दी का 'भद्रबाहुचरित्र' अथवा 'भावप्रकाश' आदि ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसी घटनाओं पर प्रकाश डालने के लिए यथेष्ट नहीं समझे जाते। आचार्य रत्ननन्दीजी का समय बहुत आधुनिक है। भावप्रकाश तो ऐतिहासिक दृष्टि से कोई महत्त्व ही नहीं रखता। वह तो बहुत-सी सुनी सुनाई किम्वदन्तियों, और रोचक कथाओं का संग्रह मात्र है; इसलिये उक्त लेख के विद्वान् लेखक की यह कल्पना कि श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय का जन्म विक्रम सम्वत् के १३६ वर्ष बाद हुआ है, ऐतिहासिक कसौटी पर नहीं ठहर सकती। अन्तिम श्रुतकेवली, भद्रबाहु के समय में ही दोनों सम्प्रदायों के भिन्न हो जाने का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि यहाँ से दोनों सम्प्रदायों की गुरु-पट्टावलि (आचार्यावलि) भिन्न-भिन्न दो मार्गों में विभक्त हो जाती है। एक ओर भद्रबाहु स्वामी और दूसरी ओर स्थूलभद्र स्वामी से पट्टावलियाँ प्रारंभ होती हैं। भद्रबाहु स्वामी के समय में ही जैन साधु-संघ के अधिवेशन में दोनों सम्प्रदायों के भिन्न हो जाने का उल्लेख आज पर्यन्त श्वेताम्बर ग्रन्थों में पाया जाता है। अस्तु, इस घटना को ५०० वर्ष पीछे खींचना युक्त्यसंगत है। साथ ही सम-सामयिक विदेशी साहित्य में भी नग्न, वस्त्रसहित और पीताम्बर अर्थात् बौद्ध संन्यासियों का उल्लेख पाया जाता है। ग्रीक सेनानायक सैल्युकश के पीछे आनेवाले कई ग्रीक दूतों ने उस समय के साहित्य में तीन प्रकार के साधुओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। अन्य भी कई स्थानों में वस्त्रधारी जैन साधुओं का उल्लेख पाया जाता है। यद्यपि उनके श्वेतवस्त्र अथवा अन्य किसी रंगविशेष का कोई विशेष वर्णन न होने पर भी जब पीतवस्त्र धारण करनेवाले संन्यासियों का भिन्न उल्लेख पाया जाता है, तो दो प्रकार के जैन साधु नग्न और वस्त्रधारी दिगम्बर और श्वेताम्बर के सिवाय दूसरा कोई होना संभव दिखाई नहीं देता, क्योंकि दिगम्बरों में उस समय तक भट्टारकों का आविर्भाव नहीं हुआ था। श्वेताम्बर भाई भी इस घटना में कोई सन्देह नहीं करते परन्तु इतना वे अवश्य कहते हैं कि मूल सम्प्रदाय उन्हीं का है। उस समय नग्न और वस्त्रधारी दोनों ही प्रकार के साधु होते थे। स्थूलभद्र स्वामी के पीछे से दिगम्बर सम्प्रदाय मूल सम्प्रदाय से भिन्न हो गया जैसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने नग्नता के मोक्ष के प्रतिप्रतिबंधक नहीं माना, उसी प्रकार दिगम्बर आदि ग्रन्थों ने भी ऊपर से पड़े हुए वस्त्र को निर्वाण में प्रतिबंधक नहीं माना। जो दिगम्बर सिद्धान्त यह कहता है कि कर्मों का अत्यन्त अभाव ही मोक्ष है, वह सिद्धान्त यह कैसे स्वीकार कर सकता है कि जिस जीव ने कर्मों का सर्वथा अभाव कर दिया हो और उसे यदि एक वस्त्र पहना दिया जाय, तो वह जीव मोक्ष पाने से रोका जा सकता है! अस्तु, यह सिद्धान्त अथवा यह कारण सर्वथा निर्मूल मालूम होता है कि वस्त्र मोक्ष का प्रतिबंधक कारण सिद्ध हो। यह बात भिन्न है कि अन्तरंग परिग्रह वस्त्र क्यों एक तृण भी आत्मानुभव की चरमसीमा का प्रतिबन्धक है। इसे दोनों ही सम्प्रदायवाले

स्वीकार करते हैं। अस्तु, दोनों ही सम्प्रदायों में कोई मूल सैद्धान्तिक भेद तो हैं नहीं, केवल पीछे के कुछ ग्रन्थकारों ने अहमिका बुद्धि को सामने रखकर मिथ्या साम्प्रदायिक रंग चढ़ाने का प्रयत्न किया है।

मेरा भास्कर के सुयोग्य विद्वान् सम्पादकों से यह निवेदन है कि पहले तो यथासंभव साम्प्रदायिक झगड़ों में पड़ना ही नहीं चाहिये, अनिवार्य कारण होने पर केवल निर्भ्रान्त ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर ही लेखनी उठनी चाहिये। अभी मेरी तो धारणा है कि जैन इतिहास आज से २५ वर्ष पहले जिस निविड़ अन्धकार में था, आज भी वह वहीं है। किसी महानुभाव ने परमाणुमात्र भी प्रकाश डालने का योग्य प्रयत्न नहीं किया। आज भी राजगृही में भगवान महावीर के समवशरण का अनेको बार, यहाँ आने और धर्मोपदेश देने का उल्लेख पाया जाता है—तो भी आज पर्यन्त किसी भी जैनी भाई ने यह प्रयत्न नहीं किया कि वह ढूँढ़ निकालता कि महावीर स्वामी के समवशरण का केन्द्र अथवा मध्य बिन्दु कहाँ था, केवल पहाड़ों की चोटियों पर उबड़-खाबड़ पत्थरों को जोड़कर अरब के आदर्श को सामने रखकर कुछ टेढ़े-मेढ़े मन्दिरों के निर्माण से इस परम महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान में जैन सम्प्रदाय का महत्त्व नहीं बढ़ता। बिंबसार (श्रेणिक), अजातशत्रु (कोणक) के ऐतिहासिक ध्वंशावशेष इस बात में सन्देह उपस्थित कर रहे हैं कि ये दोनों सम्राट् जैन धर्मावलम्बी थे या बौद्ध धर्मावलम्बी। ऐलोरा, अजन्ता भारतीय इतिहास के दो जाज्वल्यमान रत्न आज भी जैन इतिहास की दृष्टि से अगम्य है, हालांकि वहाँ जैन मन्दिर और जैन मूर्तियों का ध्वंशावशेष आज भी हमारी ऐतिहासिक अनवधानता पर अश्रु बहाता है। एक नहीं, सौ नहीं, हजारों स्थान ऐसे बताये जा सकते हैं कि जहाँ, इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि वर्तमान प्राप्य सामग्री को ही लेकर जैन इतिहास के किसी अन्धकारमय स्थान पर प्रकाश डालने का प्रयत्न हो सकता है। यदि हमारे भाई इस ओर ज्यादा ध्यान देंगे, तो उनका प्रयत्न बहुत-कुछ फलप्रद हो सकेगा।

सम्पादकीय नोट—बाबू पद्मराजजी का 'भास्कर' से पुराना सम्बन्ध है—आप उसके आदि सम्पादक थे। आज 'भास्कर' के विषय में उनका अभिप्राय हमारे लिये रुचिकर है। किन्तु इस अवधि में बाबू जी के दृष्टिकोण में अन्तर पड़ गया है—उनका व्यक्तित्व भी तब से परिवर्तित और परिवर्द्धित हुआ है। वे आज उतने इतिहास-जगत के विद्वान् नहीं, जितने कि हिन्दूराष्ट्र के अग्रणी नेता हैं। इस रूप में हमें उनपर गर्व है। किन्तु आज वे हिन्दू संगठन के रंग में यदि इतिहास को भी रंगना चाहें तो यह शोध-ज्ञान के लिये उपादेय नहीं कहा जा सकता! हमारे कतिपय कांग्रेसी नेता भी हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए भारत के प्राचीन इतिहास का अद्भुत रूप उपस्थित करते हैं। ऐसी बातें राष्ट्रीय दृष्टि से शायद ठीक हों, परंतु इतिहास जगत तो घटनाओं का विशुद्ध नग्नरूप ही

देखना चाहेगा—उसे किसी सम्प्रदाय से कोई सरोकार नहीं! 'भास्कर' की नीति सदा से स्पष्ट है—उसमें सम्प्रदाय-विशेष को लक्ष्य करके विद्वेषभाव से कुछ-भी नहीं लिखा जाता। विशुद्ध ऐतिहासिक आधारों से जो बात प्रमाणित होती दिखती है वह प्रकट की जाती है। उसपर ऊहापोह करने का भी अवसर प्रत्येक विश्रुत पाठक को प्राप्त है। बाबू पद्मराजजी ने हमारे 'अर्द्धफालक सम्प्रदाय' विषयक लेख पर आपत्ति की है और वह भी यात्रा में उसे पढ़ कर स्मृति पर से ही की गई है। बाबूजी को इतना अवकाश नहीं है कि वह विषय का अध्ययन करके कुछ लिखें; परन्तु इस प्रकार स्मृति-से ही आपत्ति उपस्थित करके आपने एक बड़ा साहस ही किया है! आश्चर्य है, आप 'भावप्रकाश' व 'दर्शनसार' सदृश प्राचीन ग्रन्थों को कोई महत्व नहीं देते और उन्हें इतिहास के लिए उपयोगी नहीं मानते! किन्तु जिन्होंने इन प्राचीन ग्रंथों को देखा है वे जैन इतिहास के लिए इनकी उपयोगिता से इनकार नहीं कर सकते। वि० सं० १३६ वर्ष के लगभग (बाद में नहीं) श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदायों का स्पष्ट भेद होना हमारी कल्पना नहीं है, बल्कि दोनों सम्प्रदायों की प्राचीन मान्यता है और आधुनिक विद्वान् भी उसे ठीक मानते हैं। आप दोनों सम्प्रदायों का स्पष्ट भेद चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से मानते हैं, क्योंकि दोनों सम्प्रदायों की पट्टावलि तभी से भिन्न-भिन्न मिलती है। किन्तु पट्टावलियों की भिन्नता इस बात का प्रमाण नहीं है कि दोनों सम्प्रदाय तभी बिल्कुल स्पष्ट हो गये थे। श्वेताम्बर मतानुसार भद्रबाहु के पश्चात् भी कई आचार्य दिगम्बर भेष में रहे बताये गये हैं और उन्होंने प्राचीन निर्ग्रन्थ (नग्न) वेश को ही पुनः धारण करने का उपदेश भी दिया था। इससे भी स्पष्ट है कि उन्होंने एकदम वस्त्र धारण नहीं कर लिये थे। उस पर पट्टावलियाँ बाद में रचीं गई हैं और वह बाद में अपनी-अपनी सम्प्रदाय को भिन्न प्रकट करने के लिये भिन्न-भिन्न रूप में रचीं जा सकती हैं। अतः उनके आधार से यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि भद्रबाहु जी के समय से ही श्वेताम्बर साधु वस्त्र पहनने लगे थे। इन पट्टावलियों से प्राचीन मथुरा का पुरातत्व है। उनमें ऐसे कई शिलापट हैं जिनमें श्वेताम्बरीय पट्टावली में आये हुए आचार्यों के नाम हैं, परन्तु उनमें कोई भी साधु सचेल (वस्त्रसहित) नहीं अङ्कित है। प्रत्युत कलाई पर खंडवस्त्र डाले हुए नग्न साधु अङ्कित हैं, जैसे कि वीर-गर्भपरिवर्तन के दृश्य वाले पट पर। इस पुरातत्व का उल्लेख हमने अपने पूर्वलेख में किया है; परंतु आश्चर्य है कि बाबूजी जानबूझ कर उस पर एक शब्द भी नहीं लिखते। इस शिला-लेखीय साक्षी से इनकार भी कैसे किया जाय? फिर हमारी शोध को 'कल्पना' कहना, कहाँ तक ठीक है, यह निष्पक्ष पाठक स्वयं समझ सकते हैं। निस्सन्देह जैनसंघ में सम्प्रदाय-भेद की जड़ मौर्यकाल में ही पड़ गई थी; परंतु वह पूर्णरूप में स्पष्ट ईस्वी प्रथम शताब्दि में ही हुई। इस अवधि में दोनों ही सम्प्रदायों ने अपने ग्रन्थ और अपने सिद्धान्त बिल्कुल स्पष्ट और मान्य करके घोषित कर दिये थे। प्राचीन नग्नमूर्तियों के स्थान पर वस्त्रलाञ्छनयुक्त-प्रतिमायें भी उपरान्त बनाई जाने लगी थीं। बाबूजी लिखते हैं कि समसामयिक विदेशी साहित्य जैनियों के दिगम्बर और श्वेताम्बर साधुओं का उल्लेख करता है; परंतु कोई पता निशान नहीं दिया है; जिससे उस पर विचार किया जा सके। अन्त में हिन्दू संगठन की धुन में बाबूजी ने यहाँ तक लिखा है कि दोनों सम्प्रदायों में कोई मौलिक भेद नहीं है। दिगम्बर मान्यता को लक्ष्य करके आप लिखते हैं कि "वह यह कैसे स्वीकार कर सकता है कि जिस जीव ने कर्मों का सर्वथा अभाव कर दिया हो और उसे यदि एक वस्त्र पहना दिया जाय, तो वह जीव मोक्ष पाने से रोका जा सकता है?" किन्तु बाबूजी यहाँ भूल रहे हैं। जिस जीव ने कर्मों का सर्वथा अभाव कर दिया होगा, उसे वस्त्र पहनाया ही नहीं जा सकता! वह तो उसी

समय निर्वाण में पहुँच जायगा। यदि आपका अभिप्राय उस साधु से हो जो कर्मों का सर्वथा नाश करने के लिये उद्यमी हुआ हो और कदाचित् उसे वस्त्र पहनाया जावे, तो वह साधु उसे उपसर्ग समझेगा और वैसी चर्या करेगा। परन्तु जो साधु रुचि पूर्वक वस्त्र पहनता है—उसकी सारसंभाल करता है, उसे मोह-मुक्त कैसे कहा जायगा? कैसे यह माना जायगा कि वह सूक्ष्मतम रूप में वासनामुक्त है? लज्जा को उसने जीत लिया है। इस प्रकार का विशुद्ध तत्त्वचर्चा और ऐतिहासिक शोध को 'साम्प्रदायिक-कोटि' में ढकेलना ज्ञानोपयोग का उपहास करना है। आशा है, बाबूजी भविष्य में ऐतिहासिक बातों को अधिक सावधानी से समझने-बूझने का प्रयत्न करके इतिहास-जगत का हित साधेंगे। इसमें शक नहीं कि जैनियों ने जैन इतिहास की शोध में चाहिये वैसी दिलचस्पी नहीं ली है—इस ओर कोई भी संगठित उद्योग नहीं किया गया है। जैनसमाज को इस ओर ध्यान देना चाहिये।

—कामता प्रसाद जैन

सर्वार्थसिद्धि के शकयवनादि शब्द

श्री आचार्य उमास्वातिकृत 'तत्त्वार्थसूत्र' के तृतीय अध्याय में 'आर्या म्लेच्छाश्च' (सूत्र सं० ३६) जो सूत्र है, उसकी श्री आचार्य पूज्यपादकृत 'सर्वार्थसिद्धि' नामक प्राचीन वृत्ति में पूज्यपाद ने कर्मभूमिज म्लेच्छों का भेद गिनाते हुए 'कर्मभूमिजाश्च शकयवनशबर-पुलिंदादयः' यों शक, यवन, शबर एवं पुलिंद आदि जातियों को कर्मभूमिज म्लेच्छ बतलाया है। इन उल्लिखित शक, यवनादि जातियों पर विशेष प्रकाश डालने की जरूरत है। मनु, महाभारत एवं अशोक के लेख आदि से पता लगता है कि इन यवन, पुलिंद आदि जातियों का भारतीय प्राचीन राजतंत्र से भी घनिष्ठ संबंध था। आशा है कि अनुसंधानप्रेमी विद्वान् इस विषय पर अवश्य प्रकाश डालेंगे।

—के० भुजबली शास्त्री

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम

[ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद, जैन, एम० आर० ए० एस०]

(क्रमागत)

नविलूर ग्राम २४। श्रीवल्लभ के पुत्र महासामन्ताधिप रणावलोक श्रीकम्बय्यन् के राज्य में मनसिज की राज्ञी के व्याधिमुक्त होने पर मौनव्रत की समाप्ति के उपलक्ष में जो भूमिदान किया गया था, उसकी सीमा का एक ग्राम था।

नागति २९१। नागति के राजा ने देव व तीर्थ की वन्दना की थी।

नागरनविले ३६१। यहाँ के केतिसेट्टि ने चतुर्विंशति जिनालय मोसले को वार्षिक चन्दा देना स्वीकारा था।

नीलगिरि, ५३, ५६। गंगवाडि में स्थित थी।

नेडुवोर, ६। शक सं० ६२२ के लगभग इस ग्राम के पानप (मौनद) भट्टारक ने व्रत पालकर श्रवणबेल्गोल में प्राण विसर्जन किये थे।

नोलम्बवाडि प्रदेश ५३, १२४, १३०, १३७, ४९१, ४९४ नोलम्ब वंशी राजाओं के शासनाधीन प्रदेश 'नोलम्बवाडि' कहलाता था। यह देश 'पल्लवदेश' के अन्तर्गत समझा जाता था। इसके अन्तर्गत ३२००० ग्राम थे।

पडेवलगेरे, ८९। गंगवाडि का एक ग्राम था जो गोम्मटेश को भेंट किया गया था।

परमग्राम, ४५, ५९। गंगवाडि का एक ग्राम जिसे सेनापति गंगराज ने गोम्मटेश को भेंट किया था।

पाटलिपुत्र नगर, ५४। "पूर्व्वं पाटलिपुत्र-मध्य-नगरे भेरी मया ताडिता" इन शब्दों में स्वामी समन्तभद्र ने इस नगर को पूर्व देश में स्थित बताया था। अतः यह मगध देश की राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) होना चाहिये। कन्नड भाषा के 'राजावलीकथे' नामक ग्रंथ में लिखा है कि "कार्त्तिकी पूर्णिमा की रात्रि को पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त को सोलह स्वप्न हुए थे। प्रातः उपवन में जाकर राजा ने भद्रबाहु से उनका फल पूछा था और अन्त में वह उनके निकट दिगम्बर जैन मुनि हो गए थे। जब भद्रबाहु स्वामी संघ-सहित दक्षिण भारत में पहुंचे और श्रवणबेल्गुल में (कटवप्र पर) ठहरे तब चन्द्रगुप्त उनकी सेवा-सुश्रूषा के लिये उनके साथ रहे थे। यहाँ उन्होंने धर्म साधा था।" इसीलिये कटवप्र पर्वत उपरांत 'चन्द्रगिरि' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। स्वामी समन्तभद्र ने इस नगर में भेरी बजाकर विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा था। मौर्यवंश के राजाओं के पहले से पाटलिपुत्र जैनधर्म का केन्द्र हो रहा था। उदयनराज ने गंगातट पर बसे हुए पाटलिग्राम को वृहदाकार देकर पाटलिपुत्र को जन्म दिया था। उन्होंने स्वयं एवं उपरान्त मौर्य सम्राटों ने यहाँ जिन-

मंदिर बनवाये थे। मेगास्थनीज़ नामक यूनानी एल्चो ने इसका विशद वर्णन लिखा था। उसने इसका नाम 'पलिबोथ्र' (Palibothra) लिखा था और उसे गंगा एवं अरुणवर (Erannoboar) नामक नदियों के संगम पर बसा हुआ बताया था। वह लगभग २५-२६ मील को लम्बाई-चौड़ाई में बसा हुआ था। उसके चहुंओर नगरकोट था जिसमें ६४ दरवाजे और ५७० बुर्जे थीं। आधुनिक पटना इस प्राचीन नगर के ध्वंशावशेषों पर बसा हुआ है—प्राचीन पाटलिपुत्र आज १०-२० फीट नीचे दबा पड़ा है। सन् १९१२-१३ में डॉ० स्पूनर ने यहाँ खुदाई कराई थी, जिसमें मौर्यों के सहस्र स्तंभ भवन का पता लगा था। यहीं से मौर्यकालीन जिनप्रतिमायें भी उपलब्ध हुई थीं। पाटलिपुत्र का वर्णन चीनी यात्री हुएनसांग ने इस प्रकार लिखा था: "यहाँ पर पहले से ही सुन्दर मकान (एक) युवा के नाम से बना हुआ था, इस कारण इसका नाम पाटलिपुत्रपुर, (अर्थात् पाटली वृक्ष के पुत्र का नगर) हो गया। प्राचीन राजभवन के उत्तर में एक पाषाणस्तंभ बीसियों फीट ऊँचा है। यह वह स्थान है जहाँ पर अशोक राजा ने एक नरक बनवाया था। तथागत के निर्वाण प्राप्त करने के सौवें वर्ष यहाँ पर एक अशोक (उदयन) नामक राजा हो गया है, जो बिम्बसार (श्रेणिक) राजा का प्रपौत्र था। इसने अपनी राजधानी रजगृही को बदल कर पाटली बनाई थी, और प्राचीन नगर के चारों ओर रक्षा के लिए बाहरी दीवार बनवाई थी। इसकी नींव, यद्यपि तबसे अनेक वंश समाप्त हो गये अब भी वर्तमान है। संघाराम, देवमन्दिर और स्तूप जो खंडहर होकर धराशायी हो गये हैं, उनकी संख्या सैकड़ों हैं। केवल दो या तीन कुछ अच्छी दशा में वर्तमान हैं।" (हुएनसांग का भारत भ्रमण पृ० ३७४-३७५)। जैनियों का यह तीर्थधाम है, क्योंकि सेठ सुदर्शन ने यहीं से श्रेष्ठगति पाई थी।

पाण्ड्यदेश ३८, ५३, ५४, १२४ इत्यादि। दक्षिण भारत का प्राचीन देशविशेष, जहाँ के राजा जैनधर्मानुयायी थे। मदुरा इसकी राजधानी थी। वर्तमान मदुरा और टिन्नेवेली जिले तथा ट्रावंकोर और कोयम्बुत्तूर व कोचीन के कुछ भाग पाण्ड्यदेश के अन्तर्गत थे। चीनी यात्री हुएनसांग ने 'मालकूट' नाम से इस देश का वर्णन लिखा है, जिससे प्रकट है कि इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ५००० ली था। वहाँ नमक बहुत होता था। लोग पूर्णरूप से व्यापार में ही निरत थे। यहाँ उसे असंख्य बौद्धेतर लोग मिले थे, जिनमें अधिकतर निर्ग्रन्थ (जैनी) थे। (भा० भ्र० पृ० ५७७) भद्रबाहु स्वामी का संघ इस देश में भी विचरा था। यहाँ के एक नरेश ने चतुर्मुख देव नामक जैनाचार्य को 'स्वामी की उपाधि दी थी।

पानीपथ, ३३८, ३४० इत्यादि। आगरा, अवध व पंजाब की ओर प्रचलित नागराक्षरों में लिखित अग्रवाल जैन यात्रियों के लेखों में कई एक यात्री 'पानीपथीय' थे। अतः यह नगर करनाल जिले का पानीपत प्रतीत होता है।

पुरस्थान, ३२२। उत्तरभारत का कोई नगर, जहाँ के बहुपाल जैनी ने सं० १५४६ में गोम्मटदेव की यात्रा की थी।

पेनुगोण्डे, १३६, दक्षिण भारत का एक ग्राम।

पेरुमाल्कोविल, १३६। काञ्ची का अपर नाम था।

पेर्गल्वप्पुगिरि, २४। एक पहाड़ी का नाम जो संभवतः गंगवाड़ी में थी।

पेर्जेडि. १३। यह स्थान दक्षिणभारत के तलेकाडु नामक प्रान्त में था। यहाँ के कलापक नामक धर्मात्मा सज्जन ने २१ दिन का सन्यास धारण किया था।

पोम्बुच्च, पोम्बुच्चे, ५३, ५६, १४४। गंगवाड़ी का यह एक प्रसिद्ध दुर्ग था जिसे होयसल राजाओं ने जीता था।

प्रतापपुर ग्राम, ४०। गंगवाड़ि में था, वहाँ पर रूपनारायण बस्ति का जीर्णोद्धार महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पंडितदेव ने कराया था।

बङ्कापुर, ३८, ५५, १३७। राजा मारसिंह गंग ने यहाँ पर ही श्रीअजितसेनाचार्य के निकट सल्लेखनाव्रत धारण किया था। यहाँ के जैनाचार्य प्रसिद्ध रहे हैं, जिनमें एक देवेन्द्र मुनि भी थे (बङ्कापुर-मुनीन्द्रोऽभूद् देवेन्द्रो रुन्द्रसद्गुणः)। सेनापति हुल्ल ने यहाँ के जिनमंदिरों का जीर्णोद्धार कराया था। कलिविट नायक के बनवाये हुए जिनमंदिर को उन्होंने फिर से कैलाश इतना ऊँचा बनाया था। बङ्कापुर वनवास देश का मुख्य नगर था। इसे चेल्लकेतन वंश के राजा बंकेयरसु ने बसाया था। लोकसेन नृप के समय में यहाँ जैनधर्म की विशेष उन्नति हुई थी।

बनबसे (बनवासी) दुर्ग व प्रान्त, ३८, १२४, १३०, १३७ इत्यादि। उत्तर कन्नड जिले के सिर्सि तालुक में वरदानदी के तट पर अवस्थित था। सन् ३००—१२०० ई० तक कदम्बवंश के राजाओं की राजधानी रहा, जो मैसूर रियासत के पश्चिमोत्तर भाग और उत्तर कन्नड जिले के बहुभाग पर शासन करते थे। यह बनवासी वैजयन्ती नाम से भी प्रसिद्ध था। पश्चिमीय चालुक्य नरेश त्रैलोक्यमल्ल सोमेश्वर प्रथम (सन् १०४२—१०६८ ई०) के सामन्त महामंडलेश्वर चामुण्डरायरस यहाँ के वायसराय जैनधर्म के अनन्य भक्त थे। निस्सन्देह बनवासी प्राचीन काल से जैनधर्म का केन्द्र रहा है। वहाँ बलात्कारगण की गद्दी थी। १४ वीं श० में यहाँ के वर्द्धमानस्वामी और बनवासस्वामी नामक जैनाचार्य प्रसिद्ध हुए हैं।

बम्मेयनहल्लि ग्राम, १२४ ४९४। दंडाधिप चन्द्रमौलि की प्रार्थना पर यह ग्राम आचल देवी द्वारा निर्मापित जिनमंदिर के लिये दान दिया गया था।

बर्ब्बरदेश १३८। होयसल नरेश विष्णुवर्द्धन के लिये लिखा है कि उन्होंने बर्ब्बरदेश के गर्व्व को मुच्चित किया था। भारत का पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त अरबसागर तक कौटिल्य के समय में बर्ब्बरदेश कहलाता था।

बलिपुर—५५। शक सं० १०२२ में बलिपुर मैसूर प्रदेश में जैनधर्म का एक केन्द्र था। वहाँ दि० मुनियों की एक परम्परा प्रतिष्ठित रही थी। उनमें से मलधारी गुणचन्द्रजो 'मुनीन्द्र बलिपुरे मल्लिकामोदशान्तीशचरगार्चकः कहे गये हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि बलिपुर के शान्तीश भगवान प्रसिद्ध थे। बलिपुर के सूर्याभरणत्रिपुरान्तकसूरि भी प्रसिद्ध थे। इन्होंने मागुण्डी में शङ्कर सामन्त द्वारा निर्माणित 'रत्नत्रयबस्ति' की प्रशंसा की थी—वह खूब अच्छा व सुन्दर बनाया गया था।

बलेयपट्टण—५६। गंगवाड़ि का एक दुर्ग जिसे होयसल नरेश विष्णुवर्द्धन ने जीता था।

बस्तिहल्लि—१०७। होयसल राज्य में एक ग्राम था।

बहणिगे—३६१। एक ग्राम था।

बागडेगे—८५। यहाँ के कदम्बमय्यदेव के आग्रह से कन्नडकवि बोप्पण ने यह सुललित शासन लेख रचा था।

बागिपूर—९१। इस ग्राम में रूपवती, पतिव्रता और धर्मप्रिया श्राविका सायिव्वे ने अपने पति के साथ लड़ते हुए युद्ध में वीरगति पाई थी!

बाणारसि—५३, ५६, ५९, ८३, ११६। लेखों में वाणारसि का उल्लेख शासनरक्षा के लिये शपथ रूप में किया गया है। यह उत्तर भारत का प्रसिद्ध नगर और तीर्थ बनारस प्रतीत होता है; जहाँ भ० सुपार्श्वनाथ और भ० पार्श्वनाथ के गर्भ, जन्म, तप कल्याणक हुए थे। यह प्राचीन काशीदेश की राजधानी थी। चीनयात्री हुएनसाँग के समय में यह राज्य ६६७ मील (४००० ली) में विस्तृत था। वाराणसी गंगा के पश्चिमी तट पर तब भी स्थित थी—उसका विस्तार तीन मील लंबा और एक मील चौड़ा था। अबुलफज़ल ने 'आईन-ई-अकबरी' (२।२८) में लिखा है कि 'बारानसी को आमतौर पर बनारस कहते हैं। वह एक बड़ा नगर है जो दो नदियों 'बर्ना' और 'असि' के बीच में बसा हुआ है।' भदैनी भेलूपुरा में जैनियों के पुराने मंदिर हैं।

बारकनूर, ९४। इस ग्राम के मेधाविसेट्टि की स्मृति में ३ मन दूध प्रति दिन गोम्मटेश के अभिषेकार्थ देने का दान किया गया था। यह ग्राम वहीं कहीं होगा।

बिटेयनहल्लि—३३०। इस ग्राम के मेणसिसोयिसेट्टिने गोम्मटाभिषेक के लिए दान दिया था।

बिडित—३५६। इस ग्राम गुम्मट सेट्टिने संघ सहित बेनुगल की वन्दना की थी और व्रतोद्यापन किया था।

बिलिकेरे—९८। इस ग्राम के निवासी देवराज अरसु मैसूर नरेश श्रीकृष्णराज बोडेयर के प्रधान अङ्गरक्षक थे। उनकी मृत्यु गोम्मटेश्वर के मस्तकाभिषेक के दिवस हुई। अतएव उनके पुत्र पुट्टदेवराज ने दान दिया था। —क्रमशः

गुजराती भाषा में दिगम्बर-साहित्य

[ले०—श्रीयुत बा० अगरचन्द नाहटा]

जैनधर्म के प्रधान सम्प्रदाय दिगम्बर एवं श्वेताम्बर का प्रचार-स्थल क्रमशः दक्षिण और उत्तर भारत है। उत्तर भारत में भी गुजरात प्रान्त में श्वेताम्बर सम्प्रदाय ही विशेष रूप से फला-फूला है, सैकड़ों वर्षों से यह प्रान्त उनका प्रधान केन्द्रस्थल रहा है। तब दि० सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या इस शताब्दी में कुछ बढ़ जाने पर भी अपेक्षाकृत अत्यंत न्यून है। निश्चित प्रमाण के अभाव में अद्यावधि यह कह सकना कठिन है कि दि० सम्प्रदाय का गुजरात से संबंध* कब एवं किस कारण से हुआ एवं समय-समय पर उसका कैसा प्रभाव रहा। फिर भी सं० ११८१ में पाटण में इस शर्त पर दि० कुमुदचंद्रजी से श्वे० वादीदेव-सूरि का शास्त्रार्थ हुआ कि जो हारेगा उसे इस प्रान्त को छोड़ देना पड़ेगा।† ऐसा उल्लेख प्राप्त होने के कारण उस समय से पूर्व ही उनका गुजरात से अच्छा सम्बन्ध था, ऐसा प्रतीत होता है। सं० १२९४ में अंचलगच्छीय महेन्द्रसूरि-रचित शतपदी ग्रन्थ में भी दि० भट्टारकों आदि के आचरण के विषय में उल्लेख होने से उस समय के आसपास भी दि० साधु या भट्टारक गुजरात में थे, ऐसा ज्ञात होता है। दि० समाज के विद्वानों को उचित है कि वे इस सम्बन्ध में विशेष अनुसंधान कर ज्ञातव्य इतिवृत्त प्रकाशित करें।

गुजरात प्रान्त में रचित दि० साहित्य विशेष परिमाण में नहीं पाया जाता, विशेषतः गुजराती भाषा का दि० साहित्य तो नगण्य ही है। जो थोड़ा-सा उपलब्ध है उसके सम्बन्ध में भी सर्वसाधारण की तो बात ही दूर, दि० विद्वानों में से बहुत कम व्यक्तियों को शायद ही कुछ जानकारी हो; अतः इस लेख में दि० गुजराती साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है दि० विद्वानों को इससे स्फूर्तिदायक प्रेरणा मिलेगी और इस लेख के अतिरिक्त जितना साहित्य उपलब्ध है, उसकी खोज करके विशेष ज्ञातव्य प्रकट करेंगे एवं गुजरात निवासी दि० भाई अपनी मातृभाषा के साहित्य के उद्धार-प्रकाशन की ओर विशेष रूप से ध्यान देंगे।

दि० गुजराती साहित्य की प्राचीनता एवं प्रगति—

दि० गुजराती भाषा की सर्वप्रथम रचना अद्यावधि सं० १५२० की मिली है, जिसके रचयिता ब्रह्म जिनदास हैं। सोहलवीं शताब्दी में केवल इसी कवि की कई रचनाओं का पता चला है। इसके बाद सत्रहवीं शताब्दी में अच्छी प्रगति हुई और उस समय के ११ गु० कवियों का पता चला है। अठारहवीं शताब्दी में रचना-प्रवाह सूख-सा गया, अतः केवल दो ही कवियों का अभी तक पता चला है। इसके पश्चात् की कोई रचना हमारे जानने में नहीं

* काठियावाड़ प्रान्त से दि० जैनों का ८ वीं शताब्दी के पूर्व से सम्बन्ध था, प्रमाणित है।

† जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास पृ० २२८।

आई। संभव है गुजरात के दि० ज्ञानभंडारों में खोज करने पर अन्य अनेक कवियों एवं रचनाओं का पता चले। मै भिन्न सम्प्रदाय का एवं गुजरात से दूर का ठहरा, अतः गुजरात प्रान्त के भाइयों से इस संबंध में विशेष ज्ञातव्य की आशा रखते हुए अपनी परिमित जानकारी ही यहाँ व्यक्त कर रहा हूँ।

गुजराती भाषा के दि० जैनकवि एवं उनके ग्रन्थ

सोलहवीं शताब्दी

१ ब्रह्मजिनदास :—ये मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण के आचार्य सकलकीर्ति के शिष्य थे। इनकी रचित २५ कृतियों की सूची मैंने अपने "श्रीपाल चरित्र साहित्य" में, जो कि 'अनेकान्त' वर्ष २, अंक २ में प्रकट हुआ था, दी थी। आपकी समस्त रचनाओं की भाषा गुजराती ही है या उसके भिन्न भी, यह अज्ञात है। अतः नीचे उनमें से जितने ग्रन्थ निश्चित तथा गुजराती भाषा के हैं उन्हीं की नामावलि दी जाती है :—

(१) हरिवंश रास सं० १५२०
(२) यशोधर रास
(३) आदिनाथ रास
(४) श्रेणिक रास
(५) करकंडु रास
(६) हनुमंत रास
(७) समकितसार रास
(८) सासरवासर रास
(९) कर्मविपाक रास
(१०) श्रीपाल रास
(१०) प्रद्युम्न रास

(नं० १ से ८ का उ० जै० गु० क० भा० १-३)
(नं० ८ से ११ सूरत से प्रकाशित)

सत्रहवीं शताब्दी

२ सुमतिकीर्त्तिसूरि :—ये भी मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण के भट्टारक थे। इनकी गुरुपरम्परा कृतियों के आधार से इस प्रकार ज्ञात होती है :—

पद्मनंदि, देवेन्द्रकीर्ति, विद्यानंदि, मल्लिभूषण (लघुवय में दीक्षा), लक्ष्मीचंद्रसूरि (सुमतिकीर्ति के दीक्षागुरु थे एवं इनके और भी अनेक शिष्य थे)—वीरचंद्र (१८ वर्ष तक अन्न, व्यंजन के त्यागी), ज्ञानभूषण (सुमतिकीर्ति के आचार्यपदप्रदाता), प्रभाचंद्र (गच्छपति, हुंबड ज्ञातीय)। इनकी रचित कृतियाँ इस प्रकार हैं :—

१ धर्मपरीक्षा रास (सं० १६२५ मि० सु० २ महूआ में आरंभ, हांसोट में पूर्ण)।
२ त्रैलोक्यसार-धर्मध्यान चौपई, सं० १६२७ मा० सु० १२ कोदादा में रचित।
३ लोंकामत निराकरण चौ० सं० १६२७ वै० सु० ५ र० कोदादा।

इनमें से नं० २ की प्रति नं० ३ की प्रतिलिपि हमारे संग्रह में है। नं० ३ का कुछ परिचय मैंने अपने लोंकासाह और दि० साहित्य लेख में प्रकाशित किया था जो जैनसिद्धान्त भास्कर के भाग ४, किरण १ में प्रकाशित हुआ था।

३ रत्नभूषण—आप उपर्युक्त सुमतिकीर्ति सूरि के शिष्य थे। इनके रचित १ रुक्मिणी हरण (श्रा० व० ११ सूरत) उपलब्ध है।

४ **वादीचंद्र**—आप सुमतिकीर्ति के गुरुभ्राता एवं प्रभाचंद्र के शिष्य थे। इनकी रचित एक श्रीपाल आख्यानक कथा (सं० १६५१ संघपति धनजी सवा के वचन से रचित) उपलब्ध है।

५ **ब्र० मेघराज**—ये ब्रह्मजिनदास के गुरु सकलकीर्ति के शिष्य भुवनकीर्ति के शिष्य ज्ञानभूषण, शि० विजयकीर्ति शि० शुभचंद्र शि० सुमतिकीर्ति, शि० गुणकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने ब्रह्म जिनदास के रचित ग्रन्थ के अनुसार एक शांतिनाथ चरित रास (सं० १६१७ लिखित प्रति उपलब्ध) एवं दूसरा श्रावण द्वादशी फल रास बनाया।

६ **ब्र० वस्तुपाल**—ये उपर्युक्त मेघराज के गुरुभ्राता एवं सुमतिकीर्ति गुणकीर्ति के शिष्य थे। इनका रचित एक रोहिणीव्रत-प्रबंध (सं० १६५४ आषाढ़ सुदी ३ सोम सावली, रायदेश) उपलब्ध हैं।

७ **नरेन्द्रकीर्ति**—आप गुणकीर्ति पट्टधर वादीभूषण—सकलभूषण के शिष्य थे। इन्होंने सं० १६५८ के मार्गशीर्ष शुक्ला १३ को मेवाड़ के जाउरपुर में ब्रह्म नेमिदास के कथन से एक अंजना रास बनाया।

८ **पद्मु**—ये शुभचंद्रसूरि एवं विनयचंद्र सूरि के शिष्य थे। इन्होंने एक ध्यानामृत रास बनाया।

९ **धर्मभूषण**—ये देवेन्द्रकीर्ति के पट्टधर धर्मचन्द्र के शिष्य थे। इनकी रचित एक चंपकवती, शीलपताका चौपइ (वै० सु० २ दक्षिणदेश सुरजाल्हणा में रचित) उपलब्ध है।

१० **अनन्तकीर्ति**—इनके रचित एक भविष्यदत्त चौ० (सं० १६६३ का० सु० १४ सांगानेर) की प्रति बीकानेर के मंगलचंद जी मालू के संग्रह में है।

११ **देवेन्द्रकीर्ति**—ये वादीभूषण के शिष्य रामकीर्ति के शिष्य थे। इनकी रचित एक प्रद्युम्न कथा रास उपलब्ध है।

अट्ठारहवीं शताब्दी

१२ **ब्र० ज्ञानसागर**—काष्ठासंघीय श्रीभूषण के शिष्य थे। इनकी रचित निम्नोक्त छोटी छोटी व्रत-कथायें उपलब्ध हैं—

१	अनंतचतुर्दशी कथा गा० ५४	५	रत्नत्रय व्रतकथा गा० ४४
२	सुगंधदशमी कथा गा० ४३	६	सोलकारणकथा गा० ३४
३	दशलक्षणिक कथा गा० ५५	७	निर्दोषसप्तमी कथा गा० ४१
४	अट्ठाहीव्रत कथा गाथा ५३	८	आकाशपंचमी कथा गाथा ७९

(ये सब कथायें सं० १७८९ लिखित प्रति में है।)

१३ **जयसागर**—ये नं० ४ वादीचंद्र के शिष्य महीचंद्र के शिष्य थे। इन्होंने सं० १७३२ मि० सु० १३ हांसोट में महीचंद्र शि० जीवंधर छीता के वचन से अनिरुद्ध-हरण ग्रन्थ बनाया।

इस शताब्दी के अन्य एक दि० कवि सूर का पता चलता है। पर वास्तव में उसने श्वे० सूरविजय रचित रत्नपाल रास की प्रति में कुछ रद्दोबदल कर उसे ही अपने रचित बतलाने की असफल चेष्टा कर साहित्यिक अपराध किया है। देखें जैनगुर्ज्जर कविओ भा० ३, पृ० १२३।

*इस लेख के लिखने में जैन गुर्ज्जर कविओ भाग १, २, ३, से पूर्ण सहायता ली गई हैं जिनमें भाग ३ अप्रकाशित है।

उपर्युक्त रचनाओं से दि० सम्प्रदाय के मूल संघ सरस्वती गच्छ, बलात्कारगण की दो भट्टारक परम्परा का अच्छा परिचय मिलता है, पता नहीं अब इनकी परम्परा विद्यमान है या नहीं। इनकी पट्टावलि मिलती हो तो प्रकाशित करना चाहिये। कृतियों से ज्ञात परम्परा की नामावलि इस प्रकार है—

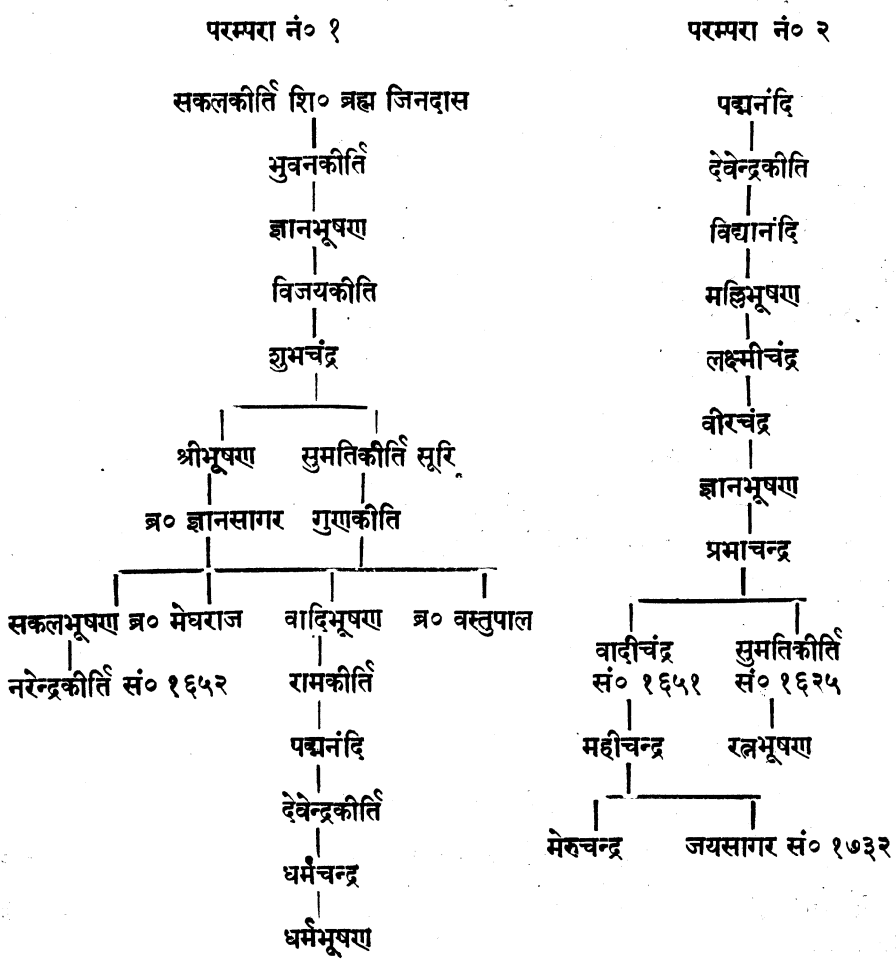

दि० संप्रदाय के भट्टारक एवं मुनि-परम्परा की पट्टावलियों का भी कोई संग्रह ग्रन्थ अभी तक प्रकट नहीं हुआ। अतः दि० समाज को अपनी पट्टावलियों के संग्रह को शीघ्र प्रकाशित करना चाहिये, जिससे अनेक नवीन ज्ञातव्य प्रकट हो सके। आशा है दि० विद्वान् इस ओर शीघ्र ध्यान देंगे।

परिशिष्ट

इस लेख के भेज देने के बाद श्री मूलचंद किसनदास कापड़िया से १ लेख एवं ग्रन्थ मिला जिससे सूरत की भट्टारक-परम्परा एवं दि० गुजराती साहित्य के बहुत से नये ग्रन्थों का पता चला। गुजरात में ईडर एवं सूरत में दि० भट्टारकों की गद्दियाँ थीं पर अब दोनों गद्दीयाँ खाली हैं। सूरत की शाखा के भट्टारकों की रचना बहुत विशाल है; अतः दि० विद्वानों को विशेष अनुसन्धान कर ज्ञातव्य प्रकट करना चाहिये। प्रस्तुत लेख में उल्लिखित दि० गु० ग्रन्थों के अतिरिक्त कापड़िया जी के लेख से ज्ञात ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार है:

सुदर्शनचरित्र, सकलकीर्ति, ले० १५६४
रामसीतारास—बहारसीधना
तत्वार्थटीका—खीवसीमंत्री
श्रेणिकप्रश्नोत्तर-गुणभूषण ले० २ सं० १६३०
चंद्रप्रभुचरित्र—भ० यशकीर्ति र० ले० १८५५
आदिनाथफाग—ज्ञानभूषण
सगरचक्रवर्तीरास—ब्रह्म जयसागर र० १७१७
रामायणरास—ब्रह्म विनयसागर
रेणुकारास—ब्रह्म जिनदास
मांडनबंधन उ खाडनरास-सुमतिकीर्ति
समाधितंत्र (गु० पद्य)।
पद्मपुराण-रामपुराण—खुशालदास ले० १७८३
यशोधररास
सम्यक्त्वकौमुदी—भ० यशःकीर्ति
जीवंधररास—ज्ञानभूषण
श्रावकाचाररास
रामपुराणभाषा—ब्रह्म जिनदास र० १५७८ (?)
सीताहरणादि ३ रास—ब्रह्म जयसागर ले० १७३२

आराधनाप्रतिबोध कथायें—ब्रह्म जयसागर ले० १७३२
बलीभद्रआख्यान—ब्रह्म श्रीदयालसागर र० १७३२
हनुमान कथा—सूरदास र० १६१६
पञ्चविधानरास—भ० शुभचंद्र ले० १७२१
धर्मपरीक्षारास—ब्रह्म श्रीचंद्रसागर र० १६२५
आदित्यवारकथा—ब्रह्म श्रीसागर
आदिसमोवसरणरचना - सुरेन्द्रकीर्ति ले० १७४७
चंदनाधर्मपरीक्षादि ८ रास—ब्रादिचंद्र, प्रभाचंद्र र० १६२५ सं० १७७०
अमरदत्तरास—जयकीर्त्ति
गर्भाख्यान—रत्नभूषण
शांतिनाथचरित्र—ब्रह्म जयसागर सं० १७४५
कर्मविपाकरास—गणेशजी
महावीररास—शुभचन्द्र
देवेन्द्ररास र० १६३९

तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक (लेखांक ५)

[ले०—श्रीयुत प्रो० जगदीशचन्द्र जैन, एम०ए०]

(क्रमागत)

२ आक्षेप—सिद्धसेनगणि सूत्र और भाष्य का एककर्तृत्व सिद्ध करने के लिये कोई प्रबल प्रमाण नहीं देते। वे तो सूत्रकार को सूरि और भाष्यकार को भाष्यकार कह कर दोनों को भिन्न-भिन्न ही सूचित करते हैं, तथा 'शास्तीति च ग्रन्थकारः' आदि और 'सूत्रकारादविभक्तोऽपि भाष्यकारः' आदि दोनों स्थलों पर सिद्धसेन को उत्पन्न होनेवाली सन्देह की रेखा, और खींचातानी द्वारा उसके परिमार्जन की चेष्टा, स्पष्ट है।

२ उत्तर—सिद्धसेन का एककर्तृत्व में प्रबल प्रमाण न देने की बात बड़ी अनोखी है। जब सिद्धसेन सूत्र और भाष्य दोनों पर टीका लिख रहे हैं, सूत्र और तद्गत भाष्य पर अक्षरशः लेखनी चला रहे हैं, तथा सूत्र और भाष्य का भिन्नत्व एक भी स्थल पर सूचित नहीं करते तथा अन्त में उमास्वातिवाचक के वंश, गोत्र, स्थान आदि का परिचय तक देते हैं फिर इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिये? यह तर्क इसी तरह का है जैसे कोई कहे कि अभयनन्दि ने देवनन्दि के सूत्र और सूत्रवृत्ति का एककर्तृत्व सिद्ध करने के लिये कोई प्रबल प्रमाण नहीं दिया, अतएव जैनेन्द्र-प्रक्रिया के कर्त्ता देवनन्दि नहीं हो सकते। सिद्धसेन सूत्र और भाष्यकार को एक मानते थे, यह बात उनके निम्न उल्लेखों से अत्यन्त स्पष्ट है—

(अ) एतच्च यथा दुःस्थितं चातुर्विध्यं तथा भाष्यकार एव उत्तरत्र दर्शयिष्यति (१-१०) अर्थात् प्रमाणचातुर्विध्य किस तरह ठीक नहीं बैठता, इस बात को भाष्यकार स्वयं आगे चल कर पहले अध्याय के बारहवें सूत्र (प्रत्यक्षमन्यत्) में बतायेंगे (पृ० ५२)।

(आ) सूत्रावयवं स्पष्टतरेण वृत्तिवाक्येन व्याचष्टे—अर्थात् (ग्रन्थकार ने) सूत्रावयव को स्पष्टरूप से वृत्तिवाक्य (भाष्यवाक्य) द्वारा कहा है (पृ० ३३३)।

(इ) स्वकृतसूत्रसन्निवेशमाश्रित्योक्तम्—अर्थात् स्वकृतसूत्र-सन्निवेश के आश्रय से कहा है (पृ० २५३ दूसरा भाग)।

(ई) भाष्यकारस्तु "पूर्वविद" इति सूत्रावयवं पृथग् विवृणोति – अर्थात् भाष्यकार तो "पूर्वविदः" इस सूत्रावयव को अलग लिखते हैं (पृ० २७५।

सूत्र और भाष्य का ही नहीं, परन्तु भाष्यगत आदि और अन्त की संबंधकारिकाओं का भी सिद्धसेन ने निम्न शब्दों में एककर्तृत्व स्वीकार किया है—

(अ) अमुनाऽप्याचार्येणोक्तं—"ज्ञानैः पूर्वाधिगतैः" (संबंधकारिका १२)—(पृ० १५४)।

(आ) दशमेऽध्याये (१९ तम) कारिकाभाष्येण व्याख्यास्यते "तन्वी मनोज्ञा सुरभिः, पुण्या परमभासुरा" इत्यादिनेति (पृ० २३२)।

यह कहना कि सिद्धसेन ने सूत्रकार को सूरि और भाष्यकर्त्ता को भाष्यकार कह कर दोनों का अलग-अलग उल्लेख किया है, सर्वथा मिथ्या है। यह बात निम्न उद्धरणों से स्पष्ट होगी--

(अ) "सर्वस्य" इत्यत्रसूत्रे तैजसयोगमाचार्यो अन्यमतेन निराकरिष्यति (पृ० १७९) - यहाँ 'आचार्य' का अभिप्राय सूत्रकार से है।

(आ) अत्र आचार्येणाब्बहुलं काण्डं नोपात्तं (पृ० २३०) यहाँ 'आचार्य' का अभिप्राय भाष्यकार से है।

(इ) प्रावचनक्रमोऽयम्, आचार्येण त्वन्यथोपात्तः (पृ० २९३-४,—यहाँ भी 'आचार्य' से भाष्यकार के वाक्य ही अपेक्षित हैं।

(ई) ऊर्ध्वं सौमनसान्नन्दनवनाच्चाधो न सूरिणा परिहाणिरुक्ता (पृ० २५२)—यहाँ 'सूरि' कहकर भाष्यकार के वचनों का संकेत किया गया है।

इससे स्पष्ट है कि सूत्र और भाष्य की स्वोपज्ञता में सिद्धसेन को लेशमात्र भी सन्देह नहीं। एक ही ग्रन्थकार का वे वाचक, वाचकमुख्य, सूरि, आचार्य, सूत्रकार आदि शब्दों द्वारा उल्लेख करते हैं, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि भाष्य के वाचक, वाचकमुख्य आदि अनेक कर्त्ताओं का सिद्धसेन ने उल्लेख किया है।

'शास्तीति च ग्रंथकारः' और 'सूत्रकारादविभक्तोऽपि भाष्यकारः' इन वाक्यों में, समझ में नहीं आता, सिद्धसेन की सन्देहजन्य खींचातानी कैसे टपकी पड़ती है! प्रत्युत इन वाक्यों से तो सूत्र और भाष्य की स्वोपज्ञता ही स्पष्ट मालूम हो रही है। "सूत्रकारादविभक्तोऽपि हि भाष्यकारो विभागमादर्शयति, व्युच्छित्तिनयसमाश्रयणात्"—अर्थात् व्युच्छित्ति नय की अपेक्षा भाष्यकार सूत्रकार से अविभक्त होने पर भी विभाग का प्रदर्शन करते हैं। इससे सिद्धसेन की कौन-सी संदिग्धता प्रकट होती है? क्या अनेकांत-सम्पादक कुछ प्रकाश डालेंगे? इससे तो यह अत्यन्त स्पष्ट है कि सिद्धसेन सूत्र और भाष्यकार दोनों को एक मान रहे हैं। इसी तरह "शास्तीति च ग्रन्थकार एव द्विधा आत्मानं विभज्य सूत्रकारभाष्यकाराकारेणैवमाह"—अर्थात् ग्रंथकार ही अपने आपको सूत्रकार और भाष्यकाररूप में विभक्त करता है, इन वाक्यों द्वारा भी सिद्धसेन सूत्र और भाष्य की असंदिग्ध स्वोपज्ञता ही प्रकट कर रहे हैं। यहाँ ऐसे कौन-से वाक्य हैं, जिनसे उनका सन्देह अथवा खींचातानी प्रकट होते हों? शायद इसी तरह की युक्तियाँ देकर लेखक अपने आपको 'दिव्यचक्षु' सिद्ध करना चाहते हैं! इस तरह के और भी उदाहरण सिद्धसेन की टीका में से दिये जा सकते हैं, जहाँ

सिद्धसेन ने सूत्र और भाष्यकार के एककर्तृत्व का पूर्ण समर्थन किया है। "अनुश्रेणि गतिः" सूत्र के भाष्य में 'पुद्गल' शब्द आया है। इस पर सिद्धसेन शंका उठाते हैं कि जब "अनुश्रेणि गतिः" सूत्र में 'पुद्गल' शब्द नहीं आया, तो वह भाष्य में कहाँ से कूद पड़ा ? इसके उत्तर में सिद्धसेन कहते हैं कि सूत्र में लाघवापेक्षा इष्ट रहती है, अतएव 'पुद्गल' शब्द सूत्र में न होने पर भी भाष्य में आ गया है। "पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः" की टीका में भी इसी तरह की शंका की गई है कि सूत्र में 'काय' शब्द न होने पर भी भाष्य में कहाँ से आ गया ? इसके उत्तर में भी सूत्रकार को लाघवार्थी बताकर समाधान किया गया है। इस तरह के उदाहरण यही सिद्ध करते है कि सिद्धसेन अत्यंत असंदिग्धरूप से सूत्रकार और भाष्यकार को एक मानते हैं। इसीलिये तो वे सूत्र और भाष्य की संगति बैठा कर दोनों पर टीका लिख रहे हैं।

३ **आक्षेप**—उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' पद में 'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येक संबध्यते' इस नियम के अनुसार उमास्वातिवाचकोपज्ञ विशेषण प्रत्येक विशेष्य (सूत्र और भाष्य) के साथ लगाया जा सकता था, लेकिन व्याकरण का उक्त नियम असंदिग्ध अवस्था में लागू होता है। जहाँ संदिग्धता रूप विवादस्थ विषय हो, वहाँ यह नियम नहीं लगता। यहाँ का विषय संदिग्ध इसलिये है कि उक्त वाक्य सिद्धसेनगणीय टीका के केवल सप्तमाध्याय के अन्त में आया है, अन्य अध्यायों के नहीं। इसके अतिरिक्त सिद्धसेनगणि सूत्र और भाष्य को स्वोपज्ञता में सर्वथा असंदिग्ध न थे। यदि वे असंदिग्ध होते, तो 'उमास्वातिवाचकोपज्ञे सूत्रभाष्ये' अथवा 'उमास्वातिवाचकोपज्ञे सूत्रे, उमास्वातिवाचकोपज्ञे भाष्ये च' ऐसा स्पष्ट लिखते। अतएव उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये—यह पद प्रथमान्त द्विवचन है। इससे मेरा आशय है कि सूत्र और भाष्य दोनों ही उमास्वातिकृत नहीं हैं, केवल सूत्र ही है।

३ **उत्तर**—सिद्धसेन गणि की असंदिग्धता में ऊपर पुष्ट प्रमाण दिये जा चुके हैं। जब सिद्धसेनगणि समाष्यतत्त्वार्थ की टीका लिखते समय सूत्र और भाष्य की स्वोपज्ञता के विषय में इतने असंदिग्ध रहे हैं—उनकी समस्त टीका में एक स्थल पर भी संदेह की गुंजायश नहीं, तो फिर उनके संधिवाक्य से उनकी संदिग्धता कैसे सिद्ध की जा सकती है ? अतः ऐसी हालत में 'द्वंद्वादौ वा श्रूयमाणं" आदि उल्लिखित नियम के अनुसार यहाँ सप्तम्यंत पद मानकर क्यों न सरल और स्वाभाविक अर्थ किया जाय ? सूत्र और भाष्य का ज़बर्दस्ती भिन्न कर्तृकत्व सिद्ध करने के लिये उक्त पद को प्रथमान्त द्विवचन मानने का ऐसा क्या खास आग्रह है ? उक्त वाक्य केवल सिद्धसेनटीका में सातवें अध्याय में ही क्यों मिलते हैं, एतद्विषयक संदिग्धता का समाधान तो आपने प्रतिलेखकों को निरंकुश मानकर स्वयं कर दिया है। अतः यदि प्रतिलेखक निरंकुश न होते, तो संभवतः अन्य अध्यायों में भी यही संधिवाक्य

दृष्टिगोचर होता, ऐसा क्यों न मान लिया जाय? उक्त पद को प्रथमान्त द्विवचन मानकर भी आपकी इष्टसिद्धि नहीं हो सकी। 'अर्हत्प्रवचन तत्त्वार्थाधिगम में उमास्वाति प्रतिपादित सूत्र और भाष्य हैं' इसमें उमास्वाति-प्रतिपादित सूत्र ही है, भाष्य नहीं, यह अर्थ कौन-से व्याकरण के नियम से निकलता है, यह बताने की जरा भी कृपा नहीं की गई। तथा श्री तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे भाष्यानुसारिण्यां तत्त्वार्थटीकायां प्रथमोऽध्यायः इन संधि-वाक्यों का अर्थ करने का भी कष्ट नहीं उठाया गया। सूत्र और भाष्य की स्वोपज्ञता में सिद्धसेन सर्वथा असंदिग्ध थे, इसलिये जो ऊपर असमासांत भिन्न-भिन्न पदों के देने की बात है, उसका स्वतः खंडन हो जाता है। उदाहरण के लिये इत्याशाधरविरचितायां स्वोपज्ञ-धर्मामृतसागारधर्मदीपिकायां आदि वाक्यों में आशाधर ने असमासांत भिन्न-भिन्न पद क्यों नहीं दिये? आशाधर जी को भी लिखना चाहिये था—स्वोपज्ञधर्मामृतसागारधर्मे, स्वोपज्ञदीपिकायां च। इसी तरह सिद्धसेन के विषय में भी समझना चाहिये। किसी पद में समास हो सकने की संभावना होने पर भी समास का उपयोग न करना, यह रचनादोष है।

४ **आक्षेप**—'यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणां' इस श्वेताम्बर सूत्र में 'यथोक्त-निमित्तः' पद का अर्थ 'क्षयोपशमनिमित्तः' किया गया है। इससे मालूम होता है कि सूत्र और भाष्यकार जुदेजुदे थे।

४ **उत्तर**—यदि लेखक महोदय उक्त सूत्र के पूर्व दो सूत्र देखते, तो यह शंका न होती। इससे पहले का एक सूत्र है—द्विविधोऽवधिः। यहाँ अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और क्षयोपशम-निमित्त—ये दो भेद बताये जा चुके है। इसीको ध्यान में रखकर यथोक्तनिमित्तः का अर्थ क्षयोपशमनिमित्त किया गया है। इसमें अर्थ की कोई असंगति नहीं। अतएव जो उक्त अर्थ को दिगम्बरीय सूत्र या उसके भाष्यों से ले लेना बताया है, वह निर्मूलक है।

(३) वृत्ति

१ **आक्षेप**—शब्दस्तोममहानिधि कोष में रचना के भेदों में सात्वती रचना का भेद भी है। सात्वती सत् शब्द से बना है, जिसका अर्थ सार होता है, और सूत्र भी सारता को लिये होता है, अतः सात्वती और सौत्री एक अर्थ के वाचक हैं। "तथा 'भवप्रत्ययोऽवधि-र्देवनारकाणां' सूत्र के वार्त्तिक भाष्य में "देवशब्दो हि अल्पाजभ्यर्हितश्चेति वृत्तौ पूर्वप्रयोगार्हः" इत्यादि शब्दों से स्पष्ट है कि यहाँ 'वृत्तौ' का अर्थ सूत्ररचना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता" (सम्पादक अनेकांत का फुटनोट)।

१ **उत्तर**—ऊपर जो कोष प्रमाणपूर्वक सात्वती और सौत्री को पर्यायवाची मानकर तथा राजवार्त्तिक का उद्धरण उपस्थित कर इष्टसिद्धि करने का प्रयत्न हैं, वह कितना भ्रमोत्पादक और हास्यास्पद है, यह बात निम्न वक्तव्य से स्पष्ट होगी। बात यह है कि साहित्यदर्पण

आदि ग्रन्थों में दो प्रकार की वृत्ति बताई है, एक शब्दवृत्ति दूसरी अर्थवृत्ति। अर्थवृत्ति के तीन भेद हैं—कौशिकी (कैशिकी), सात्वती और आरभटी; शब्दवृत्ति एक तरह की है—भारती। उक्त चारों वृत्तियाँ नाट्य की वृत्तियाँ हैं, और इन वृत्तियों का वर्णन भरत के नाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थों में आता है। सात्वती वृत्ति का नाट्यशास्त्र में निम्न लक्षण किया गया है—

या सत्त्वजेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥
वागङ्गाभिनयवती सत्त्वोत्थानवचनप्रकरणेषु।
सत्त्वाधिकारयुक्ता विज्ञेया सात्वती वृत्तिः॥

इस लक्षण में 'सूत्ररचना' अर्थ को गंध तक नहीं। यहाँ हर्षोत्कट शोकरहित भावयुक्त, वाक् और अंग के अभिनय वाली वृत्ति को सात्वती वृत्ति कहा है। मालूम होता है शास्त्री जी ने 'सात्वती' शब्द का वास्तविक अर्थ बिना समझे, उसकी निष्पत्ति सत् शब्द से वतुप् आदि लगाकर झट से कर डाली, और 'सत्' तथा 'सूत्र' शब्दों का अर्थ 'सार' मानकर सात्वती और सौत्री का गँठजोड़ा कर दिया। आश्चर्य है कि इतना सब गोलमाल करने पर भी आप 'दिव्यचक्षु' कहलाने का अधिकार समझते हैं और सम्पादक-अनेकांत आपकी पीठ ठोकते हैं। कितनी भी खींचातानी की जाय लेकिन वृत्ति का अर्थ 'सूत्ररचना' कभी नहीं होता, और खासकर राजवार्त्तिक के प्रस्तुत प्रकरण में। अनेकांत-सम्पादक ने जो वृत्ति का अर्थ 'सूत्ररचना' बताया है वह भी नितान्त भ्रममूलक है, और इसलिये सम्पादक जी ने 'सत्यानु सन्धान के नाते अपने दावे को वापिस लेने की हिम्मत' आदि की जो बात कही है, वह उन्हीं के लिये आधिक लागू है। लेकिन उन्होंने तो 'पर-उद्धार' का ठेका ले लिया है वे 'स्व-उद्धार' की बात क्यों सुनने लगे! खैर, राजवार्तिक के उक्त वाक्यों में वृत्ति का अर्थ समास है, सूत्र अथवा सूत्ररचना कभी नहीं। अल्पाच् और अभ्यर्हित होने के कारण देव शब्द का जो पूर्व निपात बताया गया है, वह सूत्रस्थ द्वन्द्वसमास को लक्ष्य में रखकर बताया है। मेरी यह व्याप्ति नहीं कि जहाँ कहीं भी राजवार्त्तिक में वृत्ति शब्द आया है, उस सब का लक्ष्यभूत तत्त्वार्थभाष्य है। संभवतः यह व्याप्ति तो आपलोगों की है कि जहाँ कहीं राजवार्त्तिक में वृत्ति शब्द है, वह 'सूत्ररचना' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मालूम होता है कि वृत्ति का अर्थ शिवकोटीय वृत्ति छोड़ कर, अब अनेकांत-सम्पादक भी सूत्र-रचना ही मानने लगे हैं। राजवार्त्तिक तथा श्लोकवार्त्तिक में अन्य स्थलों पर भी 'वृत्ति' शब्द समास अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

(अ) अजीवकाया इति समानाधिकरणा वृत्तिः ॥२॥ अजीवाश्च ते कायाश्च ते अजीवकाया इति समानाधिकरणलक्षणा वृत्तिरियं वेदितव्या (राजवार्त्तिक पृ० १८७)।

---

* तुलना कीजिये—मनोव्यापाररूपा सात्त्विकी सात्वती, सदिति प्रकाशरूपं संवेदनं, तद्यत्रास्ति तत्सत्त्वं मनस्तस्येयमिति (अभिनवगुप्तटीका, पृ० २०)।

(आ) स्यान्मतं वृत्तिरत्र न्याय्या संयमादियोगक्षांतिशौचानीति (राज० पृ० २६१)।

(इ) नवादीनां भेदशब्दोपसंहितानामन्यपदार्थे वृत्तिर्भवति नव च चत्वारश्च दश च पंच च द्वौ च भेदा अस्य नवचतुर्दशपंचद्विभेदमिति (राज० पृ० ३४३)।

(ई) यथोष्ट्रस्य मुखमुष्ट्रमुखं, उष्ट्रमुखवन्मुखमस्येति वृत्तावेकस्य मुखशब्दस्य निवृत्तिः (राज० पृ० ६२-६३)।

(उ) विग्रहाय गतिः विग्रहगतिः अश्ववघासादिवदत्र वृत्तिः (श्लोकवार्त्तिक ३३१)।

(ऊ) अत्र तृतीयांतपूर्वादुत्तरपदे लोपश्चेत्यनेन वृत्तिः दध्योदनवत् (श्लो०, ३५५)।

इत्यादि अनेक स्थलों पर अकलंक और विद्यानन्दि ने वृत्ति शब्द को समास अर्थ में लिया है। लेकिन उसका अर्थ कहीं भी सूत्ररचना नहीं किया। उक्त स्थल शिवकोटीय वृत्ति के भी द्योतक नहीं। स्वयं जैनेन्द्रव्याकरणकार ने अपने व्याकरण में वृत्ति का अर्थ समास किया है:—

(अ) वृत्तौ कृतशब्दार्थोऽन्तर्भूतः इति न कृतशब्दः प्रयुज्यते (पृ० १३६)।

(आ) मयूरव्यंसक इत्येवं प्रभृतयः कृतवृत्तिपूर्वनिपाता निपात्यंते (१३९)। लघुकौमुदी व्याकरण में भी कृततद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पंचवृत्तयः (पृ० १०६) लिखकर कृदन्त, तद्धित, समास आदि पाँच वृत्तियाँ बताई गई हैं। अतः वृत्ति का अर्थ सूत्ररचना करना बड़ा भारी भ्रम है। क्या अनेकांत-सम्पादक अपनी अनर्थकारक भूल स्वीकार करेंगे?

२ आक्षेप—वृत्ति का अर्थ सूत्ररचना यहाँ प्रकरणसंबद्ध है। 'वृत्तौ पंचत्ववचनात्' आदि राजवार्त्तिकगत वार्त्तिक में दिगम्बरसूत्र रचना पर शंका उठाई है। बात यह है कि "नित्यवस्थितान्यरूपाणि" सूत्र तक तथा आगे भी सूत्ररचना में पाँच द्रव्यों का ही कथन है, छः का नहीं। "अतएव नित्यावस्थितानि" सूत्रगत तीसरे वार्त्तिक में 'अवस्थितानि' शब्द की व्याख्या करते हुए जो द्रव्यों की इयत्ता का प्रमाण छः बताया गया है, उसीको लेकर अकलंक की शंका है कि—वार्त्तिके वा वार्त्तिकभाष्ये भवता उक्तानि धर्मादीनि षड्द्रव्याणि परंतु वृत्तौ (सूत्ररचनायां) धर्मादीनि पंचैव अतः कदाचित् तानि पंचत्वं न व्यभिचरन्ति। दूसरी बात, जिस वृत्ति के ऊपर अकलंक ने शंका उठाई है, यदि उस वृत्ति का अर्थ तत्त्वार्थ-भाष्य अभिप्रेत है, तो वृत्तिगत शंका का परिहार वृत्तिगत सूत्र 'कालश्चेत्येके' से ही होना चाहिये था; तथा जब आपने लेखांक (३) में उमास्वाति के अनुसार छः द्रव्यों की मान्यता सिद्ध की है, तो फिर राजवार्त्तिकगत पंचत्व की शंका उमास्वातीय तत्त्वार्थभाष्यगत कैसे हो सकती है?

२ उत्तर—ऊपर कहा जा चुका है कि वृत्ति शब्द का प्रयोग राजवार्त्तिककार ने समास (द्वन्द्वसमास आदि) अर्थ में बीसों जगह किया है। ऐसा एक भी स्थल नहीं, जहाँ उन्होंने 'वृत्ति' शब्द सूत्र रचना के अर्थ में व्यवहृत किया हो। जहाँ कहीं सूत्ररचना के विषय में वे कुछ कहना चाहते हैं वहाँ स्पष्टरूप से "सौत्रीमानुपूर्वीमाश्रित्य इदमुक्तं॥ (राजवार्त्तिक पृ०

१९८) आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, वृत्ति शब्द का नहीं। अतएव 'नित्यावस्थितानि' सूत्रगत तीसरी वार्त्तिक में आगत विषय के साथ जो उसका संबंध बैठाया जा रहा है, उसका कोई अर्थ नहीं। "स्यान्मतं वृत्तावुक्तमवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति" आदि अकलंक के वाक्यों का—वार्त्तिके वार्त्तिकभाष्येवा भवता उक्तानि धर्मादीनि षड्द्रव्याणि परंतु वृत्तौ (सूत्ररचनायां) धर्मादीनि पंचैव अतः कदाचित् तानि पंचत्वं न व्यभिचरंति—अर्थ करके, फिर यही कहना होगा कि राजवार्त्तिक पर अभूतपूर्व भाष्य सर्जन करके अनधिकारचेष्टा की जा रही है। शास्त्री जी के उक्त भाष्य में 'वार्त्तिके वार्त्तिकभाष्ये वा भवता' ये शब्द कहाँ से आ कूदे? 'परन्तु' शब्द कहाँ से आ गया? ये सब शब्द अध्याहार से तो आये नहीं। तथा ऐसा कौन-सा दिगम्बरीय सूत्र या सूत्र-रचना है, जहाँ पाँच ही (पंचैव) द्रव्य बताये हैं।* अतएव राजवार्त्तिककार के वाक्यों को स्पष्ट करने के लिये जो स्वभाष्य रचा गया है, वह सदोष है। वस्तुतः बात क्या है कि 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्र के तीसरे वार्त्तिक में 'अवस्थितानि' का अर्थ करते हुए धर्मादि षड्द्रव्यों की इयत्ता का जो उल्लेख किया गया है, उसीको लेकर 'वृत्तौ पंचत्ववचनात्' आदि वार्त्तिक में कहा गया है कि ऊपर तो अभी अपने 'अवस्थित' शब्द का अर्थ किया है कि द्रव्य अपनी छः की इयत्ता का उल्लंघन नहीं करते, परंतु 'वृत्ति' में तो 'अवस्थितानि' पद का अर्थ दूसरा ही किया गया है कि "धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति", अर्थात् धर्मादि का पंचत्व से कभी व्यभिचार नहीं; अर्थात् 'वृत्ति' में कहा है कि धर्मादि पाँच ही द्रव्य हैं, छः नहीं। इसके उत्तर में अकलंक कहते हैं कि 'वृत्ति' के उक्त उल्लेख के कारण षड्द्रव्यत्व का व्याघात नहीं होता, क्योंकि तुमने वृत्तिकार का अभिप्राय नहीं समझा। वृत्तिकार का यह अभिप्राय है (अयमभिप्रायो वृत्तिकरणस्य) कि 'कालश्च' रूप से आगे चलकर काल का लक्षण कहा जायगा, अतएव यहाँ काल की अनपेक्षा से द्रव्य-पंचत्व का कथन है। यहाँ वृत्तिकरणस्य' का अर्थ सूत्रकार अथवा सूत्र-रचनाकार त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। तथा उमास्वातीय दिगम्बरीय कोई सूत्र ऐसा नहीं, जिसमें "धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति" इतना बड़ा सूत्र हो; तथा जैसा ऊपर कहा जा चुका है, दिगंबरीय सूत्रों में ऐसा कोई स्थल भी नहीं जहाँ 'धर्मादिक का कभी पंचत्व से व्यभिचार नहीं' इतने बलपूर्वक द्रव्यपंचत्व का प्रतिपादन हो। यह बात दूसरी है कि 'नित्यवस्थितानि' आदि सूत्र तक तथा आगे भी पाँच द्रव्यों का सामान्य कथन आया हो, और वह तो आता ही। एक बात और है। काल द्रव्य को लेकर सौत्रीरचना पर शंका उठाने का अवसर तो "अजीवकाया धर्माधर्माकाश पुद्गलाः" सूत्र में है। और अकलंक ने यहाँ शंका उठाकर पूछा भी है कि धर्माधर्मादि द्रव्य गिनाते हुए कालद्रव्य क्यों नहीं गिनाया? उसका उत्तर अकलंक

* तदेवं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशभेदात्पंचविधत्वेन द्रव्यं इति वदंतं प्रत्याह—"कालश्च" (श्लोकवार्त्तिक, पृ० ४३९)—यहाँ 'पंचविधत्वेन द्रव्यं' कहकर विद्यानन्दि भी श्वेताम्बरीय द्रव्यपंचत्व की मान्यता का ही निर्देश करना चाहते हैं, क्योंकि दिगम्बरों में तो छः ही द्रव्य हैं।

ने दिया है कि आगे चलकर उसका लक्षण कहेंगे (वार्त्तिक १६ और ३६)। जब सौत्री-रचना पर काल को लेकर यहाँ शंका-समाधान कर चुके, तो फिर से वही शंका 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्र में उठाने का क्या प्रयोजन ? अतएव मानना होगा कि 'नित्यावस्थितानि' सूत्र के विवादास्पद वार्त्तिकभाष्य में सौत्री रचना पर शंका नहीं उठाई, यहाँ तो 'अवस्थित' शब्दार्थ का स्पष्टीकरण किया है, और बताया है कि हमारे कथन में और 'वृत्ति' के कथन में कोई विरोध नहीं आता॥ अब दूसरी शंका होती है कि जब वृत्ति शब्द से अकलंक को तत्त्वार्थभाष्य इष्ट था तो उन्होंने भाष्यगत सूत्र 'कालश्चेत्येके' क्यों नहीं दिया ? इसका संक्षिप्त उत्तर पूर्व लेख में आ चुका है। सबसे पहली बात तो यह है कि "कालश्चेत्येके" सूत्र के भाष्य में 'एकेत्वाचार्या व्याचक्षते कालोऽपि द्रव्यमिति' लिखकर यद्यपि उमास्वाति ने कालद्रव्य के संबंध में किन्हीं आचार्यों का मतभेद सूचन किया है, फिर भी कुछ लोगों को उक्त सूत्र से यह संदेह होता था कि स्वयं उमास्वाति काल द्रव्य को मानते हैं या नहीं। यही कारण है कि सिद्धसेनगणि तक 'वाचकमुख्यस्य तु पंचैव' कहकर यह लिख गये कि उमास्वाति पाँच ही द्रव्य मानते हैं, यद्यपि आगे चलकर उन्होंने उमास्वाति के मत से ही छः द्रव्य बताये हैं (विशेष के लिये देखो लेखांक ३)। ऐसी हालत में यदि अकलंक भी 'कालश्चेत्येके' सूत्र उद्धृत करते, तो उससे षड्द्रव्यत्व की शंका का समाधान होने के बदले शंकाकार की संदेहवृद्धि ही होती, जिसका समाधान फिर से अकलंक को करना पड़ता। दूसरी बात, अकलंक, पूज्यपादसम्मत दिगम्बरीय सूत्रों को ठीक मानते थे। उन्होंने अनेक स्थलों पर तत्त्वार्थभाष्यगत सूत्रों का खंडन किया है, अतएव उन्होंने दिगम्बरीय सूत्र का ही उद्धरण दिया। यदि कहा जाय कि जब वे भाष्यगत सूत्र ही न मानते थे, तो उन्होंने भाष्यगत वाक्योल्लेखपूर्वक काल द्रव्य के संबंध में शंका ही क्यों उठाई, तो इसका उत्तर है कि अकलंक की दृष्टि में तत्त्वार्थभाष्य एक महत्त्वपूर्ण लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ था, जिसकी उपेक्षा करना उनके लिये अशक्य था। उन्होंने इस भाष्य में से अनेक स्थलों पर वाक्य के वाक्य स्वग्रन्थ में भी लिये हैं, यद्यपि अमुक कारणों को लेकर दिगम्बरों ने उसे मानना छोड़ दिया था। अकलंक को यह सह्य नहीं हो सका कि तत्त्वार्थभाष्य जैसे ग्रन्थ को लेकर लोग द्रव्यपंचत्व जैसे जैन-धर्म के मौलिक सिद्धान्तों के विषय में शंका उपस्थित करें, यद्यपि दिगम्बर-परम्परा विरुद्ध वस्त्र-पात्र आदि की भाष्यगत मान्यताओं का उन्होंने निरसन भी किया है; इससे उनकी गुणग्राहिता और तत्त्वनिष्ठता का ही पता लगता है। इससे इस आक्षेप का भी निरसन हो जाता है कि जब उमास्वाति के अनुसार छः द्रव्य सिद्ध किये गये हैं, तो राजवार्त्तिकगत पंचत्व की शंका का लक्ष्य प्रस्तुत भाष्य कैसे हो सकता है। लेखांक (३) में विस्तार से बताया जा चुका है कि "कालश्चेत्येके" सूत्र, तथा "न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरंति" यह 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्रगत भाष्य-वाक्य, द्रव्यपंचत्व की शंका के उत्पादक थे। वस्तुतः उमास्वाति छः ही द्रव्य मानते थे। अकलंक ने "न हि कदाचित्" आदि भाष्यगत वाक्य पूर्व-पक्ष में रख कर षड्द्रव्य-विषयक समाधान करके इस कथन का समर्थन किया है। यदि अकलंक "कालश्चेत्येके" सूत्र उद्धृत करते, तो सम्प्रदाय-विरोध के साथ-साथ उक्त सूत्र से शंका की निवृत्ति भी पूर्णतया न होती, इसीलिये उन्होंने दिगम्बरीय सूत्र 'कालश्च' प्रमाणरूप से दिया।

(क्रमशः)

उत्तर कर्णाटक और कोल्हापुर राज्य के कुछ शिलालेख

[ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद, जैन, एम० आर० ए० एस०]

प्रो० के० जी० कुन्दनगार ने उत्तर कर्णाटक और कोल्हापुर राज्य में यत्र-तत्र बिखरे हुए शिलालेखों को संग्रह करके प्रकाशित किया है। निस्सन्देह इतिहास के विद्वानों के लिये उनका यह सुंदर कार्य प्रशंसनीय और बहुमूल्य है। उस संग्रह में से हम यहाँ पर कतिपय उन उल्लेखनीय लेखों को हिन्दी अनुवाद में सधन्यवाद उपस्थित करते हैं, जिनका सम्बन्ध जैनधर्म से है। इस संग्रह में नं० १ का स्तंभ लेख अधूरा ३०" × १४" लम्बा-चौड़ा है। उसका हिन्दी-अनुवाद निम्न-प्रकार है :—

(पश्चिम पार्श्व)—

१ श्रीवाग्देवी (सरस्वतीदेवी) का विवरण है।

२-३ उत्तरीय व पूर्वीय क्षेत्रों का वर्णन है।

३-६ मंदर (मेरु) पर्वत भद्रसाल वन से ५०० योजन ऊँचा है और १००० योजन पृथ्वी पर है।

७-८ वहाँ से ५०० योजन में नन्दनवन है।

८-९ वहाँ से ६२५०० योजन ऊपरी भाग है।

१०-११ वहाँ से ५०० योजन में देववन है।

११-१२ वहाँ से ३६०० योजन चढ़ा जाता है।

१३-१४ तब वहाँ से ४९४ योजन में पांडुक वन है।

१५-१६ वहाँ से ४० योजन ऊँचा उसकी शिखर है।

१७-२१ जम्बूद्वीप का नामकरण अज्ञातकालीन जम्बूवृक्ष की अपेक्षा हुआ है। मंदरमेरु के चहुंओर उत्तम भोगभूमि है... .. ।

२१-२२ जम्बूद्वीप के भरतशला(?) खण्ड में विनीताखण्ड के अन्तर्गत अयोध्या है।

२२-२५ (अयोध्या से) दक्षिण में कुन्तलदेश है। यह प्रदेश चालुक्य साम्राज्योद्धारक प्रतापी आहवमल्लदेव का साम्राज्य है। उन्हींके राज्य के अन्तिम तीन वष..... ।

२७-३० .....,

(उत्तरी पार्श्व) : २-३ उस देश में ८४ लाख देवताओं के प्रफुल्ल मुखकमलों में।

३-८ शारदा देवी का वर्णन है।

८-९-१०-३० शारदादेवी का चित्रण है। (अक्षरवृत्त, त्रिपदी, दोहवृत्त, चौपदीवृत्त छंदों का उल्लेख है)।

(दक्षिण पार्श्व) : १-९ अपनी युवावस्था में ऐश्वर्य, धन और मान के वश हो वह नरेश एक महान् व्यक्ति था। वह आत्मसम्मानी, दानवीर, संयमशील, दोषमुक्त, सेवा के योग्य, दयालु.....सद्गुणों का अधिकारी और सर्वप्रिय था। उस विद्वान् पुरुष में गुणों की जाज्वल्यज्योति चमकती थी।

१०-१३ गुणस्थानों में धर्मात्माओं के भूषणरूप .....पाँच अणुव्रतों में, तीन गुण-व्रतों में.....और चार शिक्षाव्रतों में.....।

१४ ऐसे व्रत हैं .....।

१५-१९ .....कुसुमकलिकाओं की टोकरी .....मैत्री.....इस मार्ग पर जाते, ठहरते..... ..और स्थिर रहते.....विचारशील, क्योंकि परिणामगुणों में ऐसी महानता है।

२०-२३ परिणामगुण बाधायें लायें .....वे असत्य को डरायें और वे (मन को) प्राप्त धन में से आधा दान करने में लगायें.....।

२३-२७ जब ऐसा सुख इस सांसारिक जीवन में प्रतीक्षा कर रहा था, जैसे कि कमलपत्र पर ओसबिन्दु अथवा फलितोन्मुख हुए आम्र-मञ्जरियों पर तुषार अथवा सरस और हरे-भरे बगीचे में ज्येष्ठ की तप्त बयारि.....

२८-३० खूब सुदृढ़.....रणक्षेत्र में घायल हुये .....।

३१ .....।

उपर्युक्त लेख खंडित है। तो भी यह स्पष्ट है कि उसमें आहवमल्लदेव नामक चालुक्यसम्राट् के अंतिम तीन वर्षों के राज्यकाल का वर्णन है। यह आहवमल्ल चालुक्यसम्राट् तैलपदेव हैं, जिन्होंने राष्ट्रकूट-सम्राट् कक्क द्वितीय को सन् ९७३ ई० में परास्त करके चालुक्य-साम्राज्य-लक्ष्मी को पुनः प्राप्त किया था। जैनकवि रन्न (रत्न) के वह आश्रयदाता थे। उन्होंने कवि रन्न को 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि प्रदान की थी। कविरन्न ने सम्राट् तैलप की निम्न-लिखित विरुदावली लिखी है, जिससे उनका महान् व्यक्तित्व स्पष्ट है :—

"समस्तभुवनाश्रयम्, श्रीपृथ्वीवल्लभम्, महाराजाधिराजम्, राजपरमेश्वरम्, परममट्टारकम्, करहाटमयङ्करम्, जादिलान्द्र-कुलीन-भुवन-सद्गुण-मणि-विभूषणम्, सिंधुर-कंधराधिरूढ़-पल्लि-कोटोल्लंघनम्, भद्रकविद्रावणम्, कोङ्कण-भयंकरम्, उभयबलदल्लणम्, मार्मलेवरि-गज-

केसरि, करीन्द्र-कंठीरवमल्लम् वरि-फणीन्द्र-सौपर्णम्, क्राकलिक-राज-गजकेसरि, रणकुंभि-कुंभकंठीरवम् यादवकुलाम्बर-द्यु मणि.....श्रीमन्नूर्मडितैलपनेनिसिदाहवमल्लदेवनिम्। —(गदायुद्ध, २ पृ० १५)"

तैलप ने २४ वर्षों तक उल्लेखनीय राज्य किया था। संभवतः शिलालेख में उन्हींके व्यक्तित्व का चित्रण है, जिससे स्पष्ट है कि वह अपने अन्तिम जीवन में श्रावक के व्रतों को पालते थे। सांसारिक जीवन की क्षणिकता को जानते थे। धर्म-कर्म पालते हुए भी वह राज्य-संरक्षण के कर्तव्य से विमुख नहीं थे। श्रावकाचार के व्रतनियम दर्शनीय हैं। भावविशुद्धि उस समय भी खास चीज़ थी, जिसका उल्लेख 'परिणामगुण रूप' में हुआ है। शारदादेवी (जिनवाणी) का चित्रण महाकवि पुष्पदन्त के सरस्वती-चित्रण की याद दिलाता है। लेख नं० १७ (११९६ ई०) में यादवनरेश जैत्रपाल के राज्यकाल में इन्डि नामक प्रदेश में हरि-हर-अरहंत-बुद्ध के मंदिर और ब्राह्मण ऋषि, जैनमुनि एवं बौद्धभिक्षु विचरते लिखे हैं (श्लोक ८)।

ले० नं० २२ (१२०९) एक जैन लेख है, और उसका हिन्दी रूपान्तर निम्नप्रकार है:

१-२ नमः सिद्धेभ्यः। 'श्रीमान् जीयात्—' श्लोक है। (?)

२-३ जिन्होंने काम को जीत लिया है और जिनके पदतल नतमस्तक हुए सुरासुरों की मुकुटमणियों से लाल हुए हैं, वह पार्श्वजिन इच्छित सुख प्रदान करें ॥२॥

४-५ यह शासन लेख जो जिनेन्द्र-द्वारा अभिभाषित जिनशासन का बखान करता है, पृथ्वी पर उस समय तक चमकता रहे, जब तक सूर्य, चन्द्र और ज्योतिर्मयी (मेरु) पर्वत रहें ॥३॥ वह (जिनशासन) इस प्रकार है—

५-६ जम्बूद्वीप के मध्य में स्तंभवत् मंदर (मेरु) पवत है, मंदर (मेरु) के दक्षिण में स्थित प्रदेश सदा भरत नाम से प्रसिद्ध है ॥४॥

७-१० अगणित रत्नसमूह से भरपूर उस भरतक्षेत्र में वेणुग्राम (वेलगाँव) में जो, महान् व सुंदर नगर, राज्य-लक्ष्मी का लीला-केन्द्र (राजधानी) होने के कारण है और जो तीन हज़ार ग्रामों, बड़े ग्रामों एवं नगरों से मंडित कुंडिमंडल के मध्यभाग को शोभित करता है, उसमें नाना राष्ट्रों के लोग और अनेक प्रकार की सामग्री मिलती है।

१०-११ अपने भयंकर शौर्य के लिये प्रसिद्ध राजाओं के समूह से मंडित रट्टवंश इस धरातल पर पृथ्वी के भूषण रूप में प्रसिद्ध था ॥५॥

११-१२ उस समस्त गुणाश्रय रट्टवंश में:—

१२-१७ स्वस्ति! अनेक बिरुदावली-अलंकृत समस्तभुवनाश्रय, पृथ्वीपति, महाराजाधिराज, महाप्रभु, महापवित्र, कंधारपुराधीश्वर, स्वर्ण-गरुड़-ध्वज-मंडित, रट्ट-कुल-कमल-सूर्य, रणभयंकर, नृत्य-संगीत-लय-ताल-केलि-वररत, गांधर्व-विद्या-निपुण, शरणागत-वज्र-पंजर।

१८ भुवन-विख्यात, चतुर्भुजदेव-रूप।

१८-१९ कृष्णराज चहुंओर समुद्र-वेष्ठित पृथ्वी की रक्षा अपने अतुल्य शूर-वीरता से करते सम्राट् हुए ॥६॥

२० कृष्ण के महान् और विस्तृत साम्राज्य में अनेक राजाओं के मंडलेश्वर कंधर (Kandhara)।

२१-२३ स्वस्ति! वह क्षत्रियों में श्रेष्ठ हैं। समस्त विरुदों से शोभित प्रतापी महामंडलेश्वर, लट्टनूरु-पुरवराधीश्वर, त्रिवलीशकगत, रट्टकुलभूषण, माण्डलिकवीराग्रणी, शत्रुभयंकरादि।

२३-२४ कार्तवीर्य थे। वह राजाओं में श्रेष्ठ और सुदृढ़ थे। गरीबों की रक्षा करते थे और दुष्टों का निग्रह करते और रणभूमि में उन्हें सुगमता से निगल जाते थे ॥७॥ उनके पुत्र।

२५-२६ लक्ष्मीदेव थे। वह मानी वीर रट्टकुल में सर्वश्रेष्ठ थे। शत्रुओं के लिये साक्षात् यमराज थे ॥८॥

२६-२८ लक्ष्मीदेव का शासन हरि को मात करता है, क्योंकि वह पृथ्वी की रक्षा करते थे और वामनरूप में भिक्षा लेने के लिए अवतरित हुए ॥९॥

२८-२९ उस पृथ्वीपति की प्रिय हृदयेश्वरी श्रेष्ठ चान्दलदेवी पट्टरानी थीं, जो शरणागत के लिये अभय और आश्रयदा-रत्न थीं, जिनकी प्रशंसा सुरांगनायें करतीं थीं, जो विद्वानों के लिये इच्छापूरक चिन्तामणि और अपने वंश की शिखामणि थीं ॥१०॥

३०-३१ जब कि प्रतापलंकेश्वर भयंकर मंडलेश्वर लक्ष्मीदेव अपनी राजधानी वेणुग्राम से शासन कर रहे थे, तब :—

३२-३४ अन्तिम तीर्थनाथ, सुर-नर-खेचर-पाद-वंदित, सर्वगुणाश्रय, केवलज्ञान-लक्ष्मीमंडित, पृथ्वीनेत्र, सर्वतोभद्र महावीर ने मोक्ष प्राप्त कर लिया था, तब उनकी परम्परा में यापनीयसंघ उद्भूत हुआ और पृथ्वी पर चमक रहा था ॥११॥

३४-३५ स्वस्ति! उस प्रख्यात यापनीयसंघ के कारेयगण में देवतुल्य यतिगण थे, जिन्होंने अस्ति-तत्व का प्रचार करके गण की वृद्धि की थी ॥१२॥

३५-३६ इस प्रकार तपस्या करके अनेक यति मुक्त हुए। उस अन्वय में।

३६-३७ निर्ग्रन्थ-मुनि-रूप में प्रसिद्ध कनकप्रभ जन्मे। उनका कनकप्रभ नाम इस लिये पड़ा था कि निरन्तर विद्वानों को स्वर्णदान दिया करते थे ॥१३॥

३८-४० उनके श्रेष्ठ और प्रिय शिष्य श्रीधरदेव-त्रैविद्य-चक्रेश्वर थे; जो मीमांसक-कमल-दलन-हस्ति, चार्वाकवादी-गज-केसरी, वैशेषिक-सर्प-गरुड़, सांख्यभूभृत-खंडन-वज्र और बौद्ध-धन-विलय-झंझावात थे ॥१४॥

४०-४१ उस पवित्रान्वय के कनकप्रभ की प्रशंसा लोकजन करते थे। वह सर्व-विद्याविद्, महान् पुण्यशाली और श्रीधरमुनीन्द्र के शिष्य थे ॥१५॥

४२-४३ धवल-प्रशंसाश्रय कनकप्रभ पंडितदेव की क्षेम लोगों के लिये आनन्द की वस्तु है। प्रसिद्ध कुंडीदेश उनके चरणों में शरणागत है। यह मुनि विद्वज्जन के लिये जंगम इच्छापूरक चिन्तामणि रत्न हैं ॥१६॥

४४-४५ निष्पाप कनकप्रभ पृथ्वी पर प्रसिद्ध थे। वह जिनवचनरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये चन्द्र, जिनाम्बुधि-कमल-सरोज और जिनपूजा करने में इन्द्र-तुल्य थे ।१७।

४५-४६ उन कनकप्रभ के चरणामृत चंचरीक भ्रमर—

४६-४८ अनुपम होट्टिगौड के पुत्र धनसम्पन्न अम्मगौड पृथ्वी पर प्रसिद्ध थे। उनकी पत्नी व्यालजिगौड़ि के दान-धर्म कार्यों की बराबरी कोई भी रानी नहीं कर सकती थी। इस दम्पत्ति का पुत्र होल्लन था ॥१८॥

४८-५२ जब मुरियर अम्म-गौड सानन्द अपने पुत्र-पौत्र और पत्नी सहित रह रहे थे, और सत्तर गांवों के मंडल में आठ गांवों वाले चिनचुनिके के मूलस्वामी थे, तब उन्होंने योग-वस्त्र धारण करके पार्श्वजिन का मंदिर सर्व कर्मों के क्षय के लिये बनवाया। उस मंदिर में मानस्तम्भ, मकरतोरण आदि सब ही बने हुए थे।

५३-६० शक संवत् ११३० विभव संवत्सर फाल्गुण कृष्ण तृतीया सोमवार को प्रतापी महामंडलेश्वर लक्ष्मीदेव की आज्ञानुसार महाप्रभु मूलिग-मुरियर-अम्मगौड ने यापनीय संघ मैलापान्वय कारेयगण के आचार्य कनकप्रभमंडितदेव के चरणकमल भक्तिपूर्वक जल से धोकर ७०० कम्बी (?) भूमि ..... एक बाग आदि आहार, भैषज्य, शास्त्रदान और जिनमंदिर की मरम्मत के लिये दान दी।

६०-६१ सगर आदि अनेक राजाओं ने भूमिदान दिये हैं। जिसकी भूमि है उसी को पुण्य मिलता है ।१९।

६१-६२ विष कदाचित् विष न भी हो, परन्तु देवद्रव्य विष है। विष एक व्यक्ति को मारता है, परंतु देवद्रव्य पुत्र-पौत्रादि के नाश का कारण होता है ॥२०॥

६२-६५ शक सं० ११७९ पिंगल संवत्सर चैत्र कृष्ण ७ वृहस्पतिवार को टैक्सों के नायक प्रतापी मत गौड ने कल्लरस और महादंडनायक चौडसेट्टि की आज्ञानुसार पंचदशैन विद्यालय चिनचुनिके के लिये दान दिया।

६५-६६ तीन..... ..करमुक्त दान है।

६७ जो कोई स्वदत्त या परदत्त दान को लेगा वह साठ हजार वर्षों तक मल में कृमि होगा। (सशेष)

समीक्षा और प्राप्ति-स्वीकार

पञ्चमकर्मग्रन्थ—हिन्दी भाषानुवाद सहित; मूल लेखक—श्री देवेन्द्रसूरि; अनुवादक एवं सम्पादक—न्यायतीर्थ पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, प्रधानाध्यापक स्याद्वाद जैन-विद्यालय, बनारस; प्रकाशक—श्री जैन पुस्तक-प्रचारक-मण्डल, रोशन मुहल्ला आगरा; पृष्ठ संख्या सब मिलाकर २८+५७+३७०=४५५; वीर संवत् २४६८; मूल्य ३) रु०; मुद्रण आदि चित्ताकर्षक।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में स्व० श्रीमती पानबाईजी का संक्षिप्त परिचय दिया गया है जो मरते समय इस पञ्चमकर्मग्रन्थ के प्रकाशन के लिये ५००) रु० दे गई थीं। इसके बाद प्रकाशक का वक्तव्य है। इस वक्तव्य के आगे श्री पं० सुखलालजी संघवी, प्रधानाध्यापक—जैन दर्शन हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस के द्वारा लिखित १५ पृष्ठों का 'पूर्वकथन' है। पण्डितजी ने विद्वत्तापूर्ण अपने इस 'पूर्वकथन' में कर्मतत्त्वविचारक सभी परम्पराओं की शृङ्खला पर ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला है। इस गम्भीर 'पूर्वकथन' से पण्डितजी के गहरे अध्ययन का पता आसानी से लग जाता है। आप हैं भी एक बहुदर्शी उल्लेखनीय विद्वान्। इसके अनन्तर सम्पादक का वक्तव्य है। इस वक्तव्य के बाद उन्हींकी ४६ पृष्ठों की एक पाण्डित्यपूर्ण लंबी प्रस्तावना है। पं० कैलाशचन्द्रजी ने अपनी इस सुन्दर प्रस्तावना में कर्मसिद्धान्त, कर्मविषयक साहित्य, नवीन कर्म-ग्रन्थ एवं नवीन कर्मग्रन्थों के रचयिता इन विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसमें पण्डितजी के दर्शनान्तरीय ग्रन्थों के परिशीलन का विशद परिचय मिल जाता है। वास्तव में प्रस्तावना बहुत सुन्दर लिखी गई है। इस प्रस्तावना के बाद पञ्चमकर्मग्रन्थ का विषयानुक्रम तथा इस विषयानुक्रम के उपरान्त सानुवाद पञ्चमकर्मग्रन्थ है। ग्रन्थ का अनुवाद बहुत सुन्दर हुआ है। पं० कैलाशचन्द्रजी ने इसमें पर्याप्त परिश्रम किया है। पं० सुखलालजी के शब्दों में 'मेरे प्रथम के चार अनुवादों में दिगम्बरीय साहित्य की तुलना थी पर वह उतनी न थी जितनी की इस अनुवाद में है। कारण स्पष्ट है। पण्डितजी को सारा दिगम्बरीय कर्मशास्त्र स्मरण है। इस तरह प्रस्तुत अनुवाद में श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय कर्मशास्त्र जो असल में एक ही स्रोत के दो प्रवाहमात्र हैं, जो गंगा-यमुना की तरह मिल गये है। उन्होंने जो प्रस्तावना लिखी है वह भी गहरे अध्ययन के बाद ही लिखी है। उनकी भाषा तो मानो विशद प्रवाह है। ..... इस अनुवाद के द्वारा श्वेताम्बरीय अभ्यासिओं को दिगम्बर परम्परा का तत्त्व जानने की बहुत कुछ सामग्री

मिलेगी। और जो दिगम्बरीय अभ्यासी इस अनुवाद को पढ़ेंगे उन्हें श्वेताम्बरीय वाङ्मय का सौरभ भी अनुभूत होगा।' ग्रन्थ के अन्त में शुद्धिपत्र को लेकर ७ परिशिष्ट लगे हुए हैं, जो कि बहुत उपयोगी हैं। सारांशतया प्रकाशन सर्वाङ्ग सुन्दर हुआ है। इसके लिये प्रकाशक महोदय भी हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

महावीरवाणी—प्रस्तावना-लेखक– डॉ० भगवानदास; सम्पादक—बेचरदास दोशी; प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली; पृष्ठ सं० सब मिलाकर २८+१८८=२१६; मूल्य अजिल्द एक रुपया, सजिल्द डेढ़ रुपया; ई० सन् १९४२; मुद्रण आदि सुन्दर।

इसमें अहिंसादि २५ सूत्रों या अध्यायों में ३४५ प्राकृत गाथाओं का सानुवाद संग्रह है। इन गाथाओं का संग्रह श्वेताम्बर सूत्र साहित्य से किया गया हैं। ग्रन्थ के अन्त में पारिभाषिक शब्दों का सरल हिन्दी भाषा में अर्थ भी दिया गया है। ऐसे ग्रन्थ के संकलन की बड़ी आवश्यकता थी। इसके लिये विद्वान् सम्पादक के साथ साथ संकलनकर्त्ता, हिन्दी भाषानुवादक, अनुवाद के संशोधक एवं प्रकाशक सभी धन्यवाद के पात्र हैं। हाँ, महावीरवाणी में यतिधर्म से सम्बन्ध रखनेवाली गाथाएँ अधिक हैं एवं गृहस्थोपयोगी कम। गृहस्थोपयोगी उपदेशों का संकलन भी अधिक मात्रा में होना चाहिये था। दूसरी बात है कि अगर इस संकलन में दिगम्बरीय साहित्य से भी सहायता ली जाती, तो संग्रह और उपयोगी होता। गाथाओं का अनुवाद सुन्दर हुआ है। सारांशतया ग्रन्थ उपयोगी एवं सुन्दर है।

—के० भुजबली शास्त्री

बनारसी-नाममाला—रचयिता—पं० बनारसी दासजी; सम्पादक—जुगलकिशोरजी मुख्तार; अधिष्ठाता 'वीर-सेवा-मन्दिर'; प्रकाशक—वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा, जिला सहारनपुर; पृष्ठ संख्या १०८; पाकेट साइज ६४ पेजी; मूल्य।); छपाई-सफाई सुन्दर।

यह नाममाला मध्यकाल के संस्कृत कोशों के अनुकरण पर १७वीं शताब्दी में पद्यबद्ध रची गयी है। इसकी प्रस्तावना में पं० परमानन्द शास्त्री ने लिखा है—"इस ग्रन्थ की रचना संवत् १६७० में बादशाह जहाँगीर के राज्यकाल में, आश्विन मास के शुक्लपक्ष में विजयादशमी को, सोमवार के दिन 'भानु' गुरु के प्रसाद से पूर्णता को प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थ के बनवाने का श्रेय आपके परम मित्र नरोत्तम दासजी को है, जिनके अनुरोध एवं प्रेरणा से यह बनाया गया है, जैसा कि ग्रन्थ के १७०, १७१, १७२ और १७५ वें दोहों से स्पष्ट है।" आपने यह भी बतलाया है कि इस रचना का प्रधान आधार धनंजय-कृत 'नाममाला' है। पं० नाथूरामजी प्रेमी ने 'बनारसी-विलास' में 'धनञ्जय नाममाला' का पद्यानुवाद

बतलाया है। मैं भी उपर्युक्त ग्रन्थ का ही आधारत्व स्वीकार करूँगा, क्योंकि परायण करने से मुझे कई मौलिक हिन्दी शब्द मिले हैं और आरंभ में अमरकोश का ढंग भी देखने में आता है। यह ठीक है कि संस्कृत कोशों का पूरा-पूरा अनुकरण किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोशकार प्रतिभाशाली थे, उनके पास शब्दों का भाण्डार था, फिर भी—तात्कालिक पद्धति के अनुसार पद्यबद्ध ही सही—यदि स्वतन्त्रता से उन्होंने काम लिया होता, तो इतने अप्रचलित अर्थात् भाषाकाव्य में अश्रुत शब्द नहीं आने पाते और उस काल के व्यावहारिक कुछ देशज तथा विदेशी शब्द भी इस नाममाला में स्थान पा जाते। इस ग्रन्थ में त्रिदश=देवता, संपा=बिजली, भानि=नक्षत्र और लेलिहान=सर्प इत्यादि के समान चतुर्थांश शब्द भरे पड़े हैं। पाठक 'भानि' शब्द पर विचार करें—'भ' नक्षत्र का पर्यायवाची है। बहुवचन में 'भानि' रूप हुआ। ग्रन्थकार ने जल्दी में ज्यों का त्यों रख दिया है। शुद्धि-पत्र में सम्पादक ने 'भं' बनाकर ग्रन्थकार को स्यात् निर्दोष बनाना चाहा है पर फिर भी वह संस्कृत का सविभक्तिक शब्द ही रह जाता है। अनुस्वार-रहित हो 'भ' किसी प्रकार हिन्दी में प्रयुक्त हो सकता था, पर उससे छन्दोभङ्ग हो जाता है। तात्पर्य यह कि कितने ही ऐसे शब्द हैं, जो कभी व्यवहृत नहीं होते। तथापि मैं कहूंगा कि यह नाममाला अपने समय में बड़ी अच्छी और नवीन होगी, प्राचीन हिन्दी-साहित्य के अध्ययन के लिए आज भी यह उपयोगी है।

ग्रन्थ के अन्त में संपादक ने अकारादि-क्रम से जो शब्दावली दी है और कोष्ठक में शुद्ध रूप देने का जो स्तुत्य कार्य किया है, उससे यह पुस्तक इतर शब्दकोशों की तरह पूर्ण आधुनिक हो गयी है। यह दूसरी बात है कि इसका रूप छोटा है। आखिर सम्पादक को तो ग्रन्थ में पठित शब्दों की ही आवली बतानी थी!

सम्पादन सुन्दर हुआ है। हाँ, छापे की अशुद्धियाँ तो कुछ रह ही जाती हैं। कुल अशुद्धियाँ शुद्धि-पत्र में नहीं आ सकी हैं। २९वें दोहे के 'कख पदमकर' पद का शुद्ध रूप 'कच्छप मकर' तो मैंने शुद्धिपत्र में पाया, किन्तु उसी पंक्ति का 'नवनिषि' अभी अशुद्ध पड़ा पाया।

सम्पादक यदि अपने 'शब्दानुक्रमकोश' में प्रत्येक शब्द के आगे एक-एक व्यावहारिक पर्यायवाची शब्द इटालियन फेस के छोटे अक्षरों में दे देते, तो स्यात् यह नाममाला अधिक उपयुक्त हो जाती। मिला-जुलाकर संपादन बड़ा बढ़िया हुआ है। संस्कृत-हिन्दी के प्रेमियों को एक-एक प्रति रखनी चाहिये।

जैन झंडागायनसंग्रह—यह पुस्तक दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत से प्रकाशित हुई है। पाकेट साइज; पृष्ठसंख्या ३६; मूल्य चार पैसे।

इस में जैन समाज के प्रसिद्ध निम्नलिखित कवियों के गीत संगृहीत हैं—(१) श्री कल्याण कुमारजी (२) स्व० कवि ज्योति प्रसादजी जैन (३) बाबा मंगतरायजी जैन 'साधु' (४) मा० शिवराम सिंहजी जैन (५) भगवत्स्वरूपजी जैन (६) ब्र० प्रेमसागरजी 'पंचरत्न' (७) श्री कमलादेवी जैन 'कोविद' और (८) पं० राजेन्द्रकुमारजी 'कुमरेश'।

सभी कवियों के गीतों का विषय 'झंडा' है। 'कुमरेश' जी के पाँच और गीत भिन्न-भिन्न विषयों पर हैं। सभी 'झंडागायन' परस्पर भाव और शब्दों द्वारा पूर्ण साम्य रखते हैं और छठें तथा सातवें गीत को छोड़ कर इन सभी गीतों का आधार कांग्रेस का प्रसिद्ध 'झंडाभिवादन गीत' है। सभी गीतों में जातीय उत्साह और ओज भरे हुए हैं। वे गीत जुलूस और उत्सवविशेष के लिये ही रचे गये हैं, अतः सर्वसाधारण के उपयोग के हैं। हाँ, तुक बैठाने के लिये शब्दों की खींचातानी जहाँ तहाँ हुई है। छन्दोभङ्ग दोष भी बहुधा देखने में आता है। कई गीत निर्दोष भी हैं।

कवि श्री कल्याणकुमारजी 'शशी' के "यह तीर्थंकर ने अपनाया, ऋषभदेव ने यह फहराया" इन दोनों वाक्यों में व्याकरण की अशुद्धियाँ हैं। 'वीर प्रभू' शब्द में ह्रस्व उकार भी रखते तो छन्दोभङ्ग नहीं होता। क्योंकि संयोग का पूर्ववर्ती ह्रस्व भी गुरु समझा जाता है। हिन्दी में भी इस नियम का पालन गुप्त जी आदि करते हैं। २तीय स्व० कविजी के कई शब्दों में मात्राओं की अशुद्धियाँ हैं। उनके गीत की ८, ९, १५, १६ और ४१ वीं पंक्तियों की अशुद्धियों को आसानी से हटाया जा सकता है। ३तीय कवि के गीत की ३, ६, ८, ११, १६, १७, १८, १९, २२ पंक्तियों में भिन्न-भिन्न अशुद्धियाँ हैं। ४र्थ कवि का गीत अच्छा उतरा है। ५म कवि अपेक्षाकृत अधिक सफल हुए हैं। ६ष्ठम कवि और ७म कवियित्रीजी की रचनाएँ भी सुन्दर हैं। कवयित्रीजी ने मुखपृष्ठ के पताका-चित्र का भाव-चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया है। ८म कवि 'कुमरेश' जी में प्रतिभा और लगन के साथ-साथ साहित्यिक स्वच्छन्दता भी है, इनके 'झन्डा म्हारा', 'उन्नती द्वारा', 'धिक्कारा', 'तृतिया', 'मिलो ना' इत्यादि शब्दों के कारण भाषा भद्दी हो गयी है। सब कुछ होने पर भी साधारण कोटि की जनता के लिए यह पुस्तक उपादेय है।

— कमलाकान्त उपाध्याय
व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य

पुराण और जैनधर्म—लेखक पं० हंसराजजी शर्मा और श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक-प्रचारक-मण्डल, रोशन मुहल्ला—आगरा, द्वारा प्रकाशित ; मूल्य ।।।) ; प्रकशन संस्था से ही प्राप्य।

इसमें प्रकाशन संस्था के मन्त्री दयालचन्दजी जौहरी का एक पृष्ठ में वक्तव्य एवं लेखक की छः पृष्ठों में प्रस्तावना भी सम्बद्ध हैं। 'पुराण और जैनधर्म' इस छोटी-सी पुस्तक में केवल हिन्दू-पुराणों को आलोचना की गयी है, अतः 'हिन्दू पुराण और जैनधर्म' इसका यह नामकरण कहीं अच्छा होता। लेखक के आलोच्य पुराण भागवत, कूर्म, विष्णु, स्कन्द, मत्स्य, शिव, अग्नि, वाल्मीकि और महाभारत हैं। इनमें जैनधर्म की किसी न किसी रूप में की गई चर्चा का उल्लेख कर लेखक ने अपना मन्तव्य प्रकट किया है। वास्तव में जिस विद्रूप भाव से जैनधर्म का स्मरण उक्त पुराणों में किया गया है, वह नितान्त अवाञ्छनीय है। इस विषय में मेरी समझ तो यह है कि ऋषिकल्प पुराणकर्त्ताओं की लेखनी से जैनधर्म के बारे में ऐसी असंगत एवं द्रोहात्मक उट-पटांग बातें नहीं लिखी गयी होंगी। किसी अनुदार हिन्दू पण्डित ने बीच में ऐसी कारसाजी की होगी। क्योंकि महाभारत की कथांशमात्र, गीता, ने डंके की चोट से अपनी उदारता की घोषणा कर रक्खी है कि—"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥" दुःख है कि आजकल के धर्मवादी अपने धर्म की श्रेष्ठता इसीमें समझते हैं कि भोले-भाले लोगों को उनके पैत्रिक धर्म से विमुख किया जाय। किसी धर्म की शोभा उसके सदनुष्ठान से हो सकती है न कि ऐसे मनुष्यों की संख्या बढ़ाने से जो उसके मर्म को नहीं समझते या नहीं समझ सकते।

जैनधर्म में विरोध-मूलक इस किम्वदन्ती "हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्।" का उल्लेख करके लिखा है कि "यह उक्ति आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक इसका प्रचार देखा जाता है।" वास्तव में हिन्दुओं की ओर से यह लोकोक्ति प्रचलित हुई है अवश्य। मेरी समझ में उन दिनों जैनमन्दिरों में बड़े-बड़े सिद्ध महात्मा तान्त्रिक विद्वान् रहा करते थे। उनके धर्मोपदेश का प्रभाव लोगों पर अबाध रूप से पड़ा करता था। यही वजह है कि जैनमन्दिरों में जाने की मनाही कुछ हिन्दू पण्डितों ने बड़े विकट रूप से कर रक्खी थी। पर, वह जमाना अब बहुत दूर चला गया। अब इस उक्ति को जैन-साहित्य में स्थायी रूप देकर पारस्परिक द्रोहभाव जागरित कर रखना मेरे जानते समुचित नहीं है।

जैन जनता की अपेक्षा हिन्दू-जनता के हाथों में इसका पहुंचना बहुत आवश्यक है। पर इसका मूल्य ।।।) द्विगुण मालूम होता है। अतः प्रकाशक मण्डल से मेरा अनुरोध है कि

इसके मूल्य में कमी अधिक कर दी जाय, जिससे धर्मजिज्ञासु जनता इसे आसानी से खरीद सके। यों तो पुस्तक के अन्त में अशुद्धियों का एक शुद्धिपत्र भी लगा दिया है, पर इसके अतिरिक्त भी कई अशुद्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। १९२७ ई० की छपी हुई इस पुस्तक के आज १५ वर्ष गुजर गये। हिन्दी की लेखनशैली उत्तरोत्तर निखरती जा रही है। ऐसी दशा में इस पुस्तक की हिन्दी कुछ पुरातनता लिये हुई सी नजर आती है।

जैनधर्म, जैनसाहित्य भारत के लिये एक गौरव की वस्तु है। इसकी अवहेलना करना भारत की अमूल्य निधि खोने के सामान है। जैनधर्म को बौद्धधर्म का अंग मानने का अपराध अजैनों की अपेक्षा जैनों के माथे डालना उचित प्रतीत होगा। क्योंकि अजैनों के समक्ष उन दिनों बौद्धसाहित्य प्रकाशरूप में आया। उन बेचारों ने जैनधर्म की दो चार पुस्तकें छपी देख एवं दोनों धर्मों को अहिंसा-मूलक समझ कर बौद्ध धर्म का अंग जैनधर्म को मान लिया, तो इसमें उनका दोष ही क्या है ? अब भी तो अनेक जैनग्रन्थ-रत्न दीमकों की खुराक बन रहे है—उनका मुद्रित होना अखर्व असम्यक्त्वि मसला हो रहा है। अतः आशा है कि जैन-विद्वान् इस ओर ध्यान देंगे। बल्कि उक्त पुस्तक के लेखक ने भी इसका दिग्दर्शन कराया है।

—हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ

जैनधर्म में दैव और पुरुषार्थ—लेखक—ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी; प्रकाशक—मूलचन्द किसनदास कापडिया, मालिक, दि० जैन पुस्तकालय, सूरत; मूल्य—बारह आने; पृ० १६७; वीर सं० २४६८।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी हैं। आपने इसमें दैव और पुरुषार्थ का स्वरूप आधुनिक ढंग से समझाया है। पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों मतों की समीक्षा करते हुए तुलनात्मक दृष्टि से दैव की विवेचना की है। और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का स्वरूप बतलाते हुए इनका सेवन कैसे करना चाहिए आदि बातों पर विशेष रूप से जोर दिया है। वर्णनशैली आधुनिक ढंग की और रोचक है। परन्तु भाषा परिमार्जित नहीं है। फिर भी इसके अध्ययन से जैनधर्म के कर्मसिद्धान्त का ज्ञान अच्छी तरह से हो सकता है। इसमें गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) संबंधी बन्ध, उदय, सत्व आदि का वर्णन बड़ी सरल रीति से किया गया है। आगे गुणस्थान का स्वरूप और गृहस्थ-धर्म का वर्णन संक्षेप में बड़ी उत्तमता से किया है। ब्रह्मचारीजी की सजीव लेखनी से लिखी गयी यह पुस्तक स्वाध्याय प्रेमियों के लिए बड़े काम की है। इसकी छपाई और सफाई साधारण है।

प्रूफ-संशोधन में कहीं-कहीं त्रुटियाँ रह गई हैं। अतः आगामी संस्करण में इन सब बातों पर ध्यान देना चाहिए।

पुस्तक सरल और उपयोगी है। प्रत्येक गृहस्थ को मंगाकर पढ़नी चाहिए।

तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय—समन्वयकर्ता—साहित्यरत्न जैनधर्मदिवाकर, उपाध्याय मुनि श्री आत्मारामजी महाराज; प्रकाशिका—श्रीमती रत्नदेवी जैन, लुधियाना; भाषा संस्कृत और प्राकृत; पृष्ठ ४+१०+२+३+४+१६+८६४+२१; सन् १९४१।

उपाध्यायजी का यह प्रयत्न प्रशंसनीय है। आपने तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों के साथ जो आगमसूत्रों का समन्वय किया है वह तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करनेवालों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। वास्तव में आज ऐसी सामग्री की अत्यन्त आवश्यकता है। जैन-समाज में तत्त्वार्थसूत्र का स्थान बहुत ऊँचा है। इस एक ही ग्रन्थ के अध्ययन से जैनधर्म का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है। इसीलिए तत्त्वज्ञानसंबंधी संस्कृत-रचना में सबसे ऊँचा स्थान इसी ग्रन्थ को प्राप्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों की समानता जिन-जिन आगम सूत्रों में पाई जाती है, उन सभी आगमसूत्रों का आवश्यक अंश उन-उन सूत्रों के नीचे उद्धृत कर दिया गया है। आगमसूत्रों की तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों के साथ कहीं-कहीं पर अक्षरशः समानता पायी जाती है और कहीं-कहीं पर अर्थशः। जिन सूत्रों के समन्वय में कमी प्रतीत होती है, उन सूत्रों के आगम पाठ परिशिष्ट नं० १ व २ में दिये गये हैं। आशा है, आगामी संस्करण में परिशिष्ट के आगमपाठों को सूत्रों के ही साथ में दे दिया जायगा। इससे पाठकों को अधिक लाभ होगा। आपने जो परिशिष्ट नं० ३ दिया है वह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। आपने इसमें दिगम्बर और श्वेताम्बर सूत्रों का पाठभेद भी दिखलाया है। इससे अन्वेषक विद्वानों को तो लाभ होगा ही, साथ ही साथ साधारण पाठकों को भी दोनों सम्प्रदायों की मान्यता का भेद ज्ञात हो जायगा। अगर उपाध्यायजी प्राचीन दि० जैन ग्रन्थों के साथ भी इसका समन्वय दिखलाते, तो यह चीज और उत्तम बन जाती।

यह गुटका प्रत्येक स्वाध्यायप्रेमी को अपने पास रखना चाहिये। इसका यह संस्करण सर्वांग सुन्दर है। यह गुटका जैसा बहिरंग में चित्ताकर्षक है वैसा ही अंतरंग में भी।

—नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री

६ प्राकृतव्याकरण। यह ग्रन्थ हमें अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। यशस्तिलकटीका में एक जगह उन्होंने अपने लिए यह विशेषण भी दिया है—"प्राकृतव्याकरणाद्यनेकशास्त्र-रचनाचञ्चुना" इससे और षट्पाहुडटीका में जो जगह-जगह प्राकृतव्याकरण के सूत्र दिये हैं, उनसे भी मालूम होता है कि इनका बनाया हुआ कोई प्राकृतव्याकरण अवश्य है। इस ग्रन्थ का पता लगाने की बहुत आवश्यकता है।

इनके सिवाय तर्कदीपक, विक्रमप्रबन्ध, श्रुतस्कन्धावतार, आशाधरकृत पूजाप्रबन्ध की टीका, बृहत्कथाकोश आदि और भी कई ग्रन्थ इनके बनाये हुए कहे जाते हैं।

इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपने समय का उल्लेख नहीं किया है; परन्तु यह प्रायः निश्चित है कि ये विक्रम की १६ वीं शताब्दि में हुए हैं। क्योंकि—

१—ऊपर जिस महाभिषेकटीका की प्रति का उल्लेख किया गया है, वह वि० सं० १५८२ की लिखी हुई है और वह भट्टारक मल्लिभूषण के उत्तराधिकारी लक्ष्मीचंद्र के शिष्य ब्रह्मचारी ज्ञानसागर के पढ़ने के लिए दान की गई है और इन लक्ष्मीचन्द्र का उल्लेख श्रुतसागर ने स्वयं अपनी टीकाओं में कई जगह किया है।

२—आराधनाकथाकोश के कर्त्ता ब्र० नेमिदत्त वि० १५७५ के लगभग हुए हैं और वे श्रुतसागर के गुरुभ्राता मल्लिषेण के शिष्य थे।

३—स्वर्गीय बाबा दुलीचन्द जी के सं० १९५४ के बनाए हुए हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में श्रुतसागर का समय वि० संवत् १५५० लिखा हुआ है।

४—षट्प्राभृतटीका में जगह-जगह लोंकागच्छ पर तीव्र आक्रमण किये गये हैं और श्वेताम्बरसम्प्रदाय में से यह मूर्तिपूजा का विरोधी पन्थ वि० संवत् १५०८ के लगभग स्थापित हुआ है। अतएव श्रुतसागर का समय इसकी स्थापना से अधिक नहीं तो चालीस-पचास वर्ष पीछे अवश्य मानना चाहिये।

(५३) ग्रन्थ नं० $\frac{७६}{झ}$

पार्श्वपुराण

कर्त्ता—सकलकीर्त्ति

विषय—पुराण

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १३ इञ्च चौड़ाई ७ इञ्च पत्रसंख्या ९६

प्रारम्भिक भाग—

नमः श्रीपार्श्वनाथाय विश्वविघ्नौघनाशिने ।
त्रिजगत्स्वामिने मूर्ध्ना ह्यनंतमहिमात्मने ॥१॥
जित्वा महोपसर्गान्यो ज्योतिर्देवकृतान्भुवि ।
स्ववीर्यं केवलं व्यक्तं चक्रे चेडे तमद्भुतम् ॥२॥
यन्नामस्मृतिमात्रेण विघ्नाः कार्यविनाशिनः ।
विलीयन्तेऽखिला नृणां सुमंत्रेण विषाणि वा ॥३॥
अरयो दुर्निवारा हि त्यक्त्वा वैरं व्रजन्त्यहो ।
बन्धुभावं सतां नूनं यन्नामजपनेन हि ॥४॥
क्षुद्रा देवा दुराचाराः पीडयन्ति न जातुचित् ।
याहिंसिंहादयोऽहोयच्छरणान्वितचेतसाम् ॥५॥
असाध्या दुष्करा रोगाः सर्वे यान्ति क्षणात्क्षयम् ।
यन्नामभेषजेनाऽपि तमांसि भानुना यथा ॥६॥
यद्ध्यानेन प्रणश्यन्त्यत्रानन्ताः कर्मराशयः ।
यद्यतो परविघ्नादिनाशे को विस्मयः सताम् ॥७॥
इत्यादि महिमोपेतं जगन्नाथं जगद्गुरुम् ।
तं श्रीपार्श्वं स्तुवे वंदे प्रारब्धविघ्नशान्तये ॥८॥
दिव्यवाक्किरणैरादौ रागद्वेषं तमश्चयम् ।
उच्छिद्य संप्रकाश्योच्चैर्मोक्षमार्गं सतां चयम् ॥९॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ ४८, पंक्ति १)—

नमः श्रीमुक्तिकान्ताय काममल्लविनाशिने।
श्रीपार्श्वस्वामिने सिद्ध्यै जगद्धर्त्रे चिदात्मने ॥१॥
दिग्भिः साद्धं नभोऽप्यासीन्निर्मलं जिनजन्मतः।
अम्लानकुसुमैश्चक्रुः पुष्पवृष्टिं सुरद्रुमाः ॥२॥
अनाहता महाध्वाना दधतुर्दिविजानकाः।
ववौ तदा मरुन्मन्दं सुगंधिः शिशिरः स्वयम् ॥३॥
अभूद्घंटारवोऽतीव गम्भीरो निर्जरान्प्रति।
वदतीव जिनेन्द्रस्य जन्म नाकालये स्वयम् ॥४॥
आसनानि सुरेशानामकस्मात्प्रचकम्पिरे।
देवानुच्चासनेभ्योऽधः पातयन्तीव भक्तये ॥५॥
शिरांसि प्रचलन्मौलिमणीनि प्रणतिं दधुः।
कुर्वन्तीव नमस्कारं भक्त्या तीर्थेशपादयोः ॥६॥
दृष्ट्वेत्यादिमहाश्चर्यं ज्ञात्वा तीर्थेशजन्म ते।
कल्पेशावधिज्ञानाज्जन्मस्नाने मतिं व्यधुः ॥७॥

× × ×

अन्तिम भाग—

न कीर्त्तिपूजादिसुलाभलोभान्न वा कवित्वाद्यभिमानतोऽयम्।
ग्रन्थः कृतः किन्तु परार्थबुद्ध्या स्वस्यापरेषाञ्च हिताय नूनम् ॥९२॥
अक्षरस्वरसुसंधिसुमात्रादिच्युतं यदपि किञ्चिदपीह।
ज्ञानहीनचलचित्तप्रमादात्तच्छमस्व जिनवाणि समस्तम् ॥९३॥
अवगमजलधिश्रीपार्श्वनाथस्य दिव्यं
सकलविशदकीर्त्तेः प्रादुरासीन्मुनीन्द्रात्।
यदिह वरचरित्रं तद्धि दक्षैः ननंतु (?) [दत्ताः स्मरन्तु]
यतिसुजन(सु)सेव्यं जैनधर्मोऽस्ति यावत् ॥९४॥
सर्वे तीर्थकरा महातिशयिनः सिद्धार्हकर्मातिगाः
दिव्याष्टाद्भुतसद्गुणाश्च सहिताः श्रीसाधवश्च त्रिधा।
शुक्लध्यानसुयोगसाधनपरा विद्याम्बुधेः पारगाः
ये ते विश्वगुणाकराश्च शिवदं कुर्वन्तु मे मङ्गलम् ॥९५॥

विश्वार्च्या विश्ववन्द्याः सकलवृषधरा मुक्तिकान्ताप्रसक्ताः
हन्तारः कर्मशत्रून्सुगुणजलधयो जाप्यरूपेण नित्यम् ।
आराध्या भव्यलोकैरगतिसुखकरास्तीर्थनाथाश्च सिद्धाः
ये तेऽनन्ता मुनीन्द्राः शुभसुखसदनं मङ्गलं वः प्रदद्युः ॥९६॥
जिनवररुचिमूलो ज्ञानसत्पीठबन्धः
सकलचरणशाखो दानपात्रप्रसूनः ।
शिवसुखफलनम्रो धर्मकल्पद्रुमो वः
सुशिव(सु)फलकामैः सेव्यमेवेष्टसिद्ध्यै ॥९७॥
धर्मो विश्वसमीहितार्थजनको धर्मं व्यधुर्धार्मिकाः ।
धर्मेणाशु शिवं भजन्ति मुनयो धर्माय मुक्तये नमः ।
धर्मान्नास्त्यपरोऽखिलार्थसुखदा धर्मस्य मूलं सुदृग्
धर्मे चित्तमहं दधेऽन्तकमुखाद्धे धर्म रक्षाशु माम् ॥९८॥
सर्वे श्रीजिनपुङ्गवाश्च विमलाः सिद्धा अमूर्त्ता विदः
विश्वार्च्या गुरवो जिनेन्द्रमुखजाः सिद्धान्तधर्मादयः ।
कर्त्तारो जिनशासनस्य सहिताः संवन्दिता संश्रुताः
ये ते मेऽत्र दिशन्तु मुक्तिजनके शुद्धिञ्च रत्नत्रये ॥९९॥
पञ्चाद्दशाधिकान्येवाष्टाविंशतिशतान्यपि ।
श्लोकसंख्याऽस्य विज्ञेया सर्वग्रन्थस्य लेखकैः ॥१००॥

इति श्रीपार्श्वनाथचरित्रे भट्टारकश्रीसकलकीर्त्तिविरचिते श्रीपार्श्वनाथमोक्षगमनो नाम त्रयोविंशतितमः सर्गः समाप्तः ।

ज्ञानभूषण भट्टारक विक्रम की १६ वीं शताब्दी में हुए हैं। ज्ञानभूषण भुवनकीर्ति के पट्ट पर, भुवनकीर्ति सकलकीर्ति के पट्ट पर और सकलकीर्ति पद्मनन्दी के पट्ट पर बैठे थे। १६ वीं शताब्दी के बने एवं लिखे हुए बहुत से ग्रन्थों में इस पट्टावली का उल्लेख पाया जाता है। इससे सहज ही में पद्मनन्दी के पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेवाले तथा भुवनकीर्ति के गुरु सकलकीर्ति भट्टारक का समय विक्रम की १५ वीं शताब्दी अनुमान किया जाता है। बल्कि डॉ० विन्टरनिट्ज का कहना है कि यह सकलकीर्ति लगभग ई० सन् १४६४ में स्वर्गासीन हुए थे।*

'ज्ञानार्णव' की प्रशस्ति में इन्हीं सकलकीर्ति भट्टारक के संबंध में लिखा है कि इन्होंने

* See 'A History of Indian Literature,' Page 592.

अपनी लीलामात्र से शास्त्रसमुद्र को भले प्रकार बढ़ाया है।* 'प्रश्नोत्तररत्नमाला' में सकलभूषण ने इन्हें 'पुराणमुख्योत्तमशास्त्रकारी' विशेषण के साथ स्मरण किया है। जिनदास ब्रह्मचारी ने अपने 'पद्मपुराण' और 'हरिवंशपुराण' में इनका 'महाकवित्वादि-कलाप्रवीणः' ऐसा विशेषण दिया है। 'पाण्डवपुराण' में शुभचन्द्र भट्टारक ने इनकी प्रशंसा में यह वाक्य कहा है—'कीर्तिः कृता येन च मर्त्यलोके शास्त्रार्थकर्त्री सकला पवित्रा।' इसी प्रकार और भी बहुत-से विद्वानों ने इनके महान् ग्रन्थकार होने का उल्लेख किया है। इससे ऐसा अनुमान किया जाता है कि जैन-समाज में सकलकीर्ति के नाम से जो बहुत से ग्रन्थ प्रचलित हैं और जिनपर उनके बनने का संवत् आदि नहीं दिया है उनका अधिकांश भाग इन्हीं सकलकीर्ति भट्टारक का बनाया हुआ है। १६ वीं शताब्दी में सकलकीर्ति भट्टारक नाम के दूसरे भी एक विद्वान् हुए हैं। परन्तु वे इतने अधिक प्रसिद्ध नहीं थे।†

कामराजकृत 'जयपुराण' की प्रशस्ति में सकलकीर्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य दिये हैं:—

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यस्तस्मादनुक्रमादभूत्।
स सकलकीर्तियोगीशो ज्ञानी भट्टारकेश्वरः ॥२॥
येनोद्धृतो गतो धर्मो गुर्जरे वाग्वरादिके।
निर्ग्रन्थेन कवित्वादिगुणानेवार्हता पुरा ॥३॥
तस्माद्भुवनकीर्तिः श्रीज्ञानभूषणयोगिराट्।
विजयकीर्तयोऽभूवन् भट्टारकपदेशिनः ॥४॥

इनसे मालूम होता है कि इन्हीं सकलकीर्ति भट्टारक ने, जिनके पट्ट पर क्रमशः भुवन-कीर्ति और ज्ञानभूषण बैठे थे, गुजरात और वागड़ आदि देशों में जैनधर्म का प्रचार किया है।‡ 'दिगम्बर जैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ' इस ग्रन्थतालिका में भट्टारक सकलकीर्ति के निम्नलिखित ग्रन्थों के नाम उपलब्ध होते हैं—

सिद्धान्तसार, तत्त्वार्थसारदीपक, सारचतुर्विंशतिका, धर्मप्रश्नोत्तर, मूलाचारप्रदीपक, प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, यत्याचार, सद्भाषितावली, आदिपुराण, उत्तरपुराण, धर्मनाथपुराण, शान्तिनाथपुराण, मल्लिनाथपुराण, पार्श्वनाथपुराण, वर्धमानपुराण, सिद्धान्तमुक्तावली, कर्मविपाक, देवसेनकृत तत्त्वार्थसारटीका, धन्यकुमारचरित्र, जम्बूस्वामिचरित्र, श्रीपाल-चरित्र, गजसुकुमालचरित्र, सुदर्शनचरित्र, यशोधरचरित्र, अष्टाह्निकासर्वतोभद्र, उपदेशरत्न-माला, सुकुमालचरित्र।

इनमें से प्रश्नोत्तरश्रावकाचार आदि कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

* भट्टारकपदारूढः सकलाद्यन्तकीर्तिभाक्। येन शास्त्राम्बुधिः सम्यग् वर्धितो निजलीलया ॥१४॥

† देखें—'जैनहितैषी' भाग ११, अंक १२ ‡ देखें—'जैनहितैषी' भाग १२, पृष्ठ ९०–९१

(५४) ग्रन्थ नं० ७८/झ

कातंत्रविस्तर

कर्त्ता—वर्द्धमान

विषय—व्याकरण

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १२। इञ्च चौड़ाई ७ इञ्च पत्रसंख्या २५०

प्रारम्भिक भाग—

जिनेश्वरं नमस्कृत्य गौतमं तदनन्तरम्।
सुगमः क्रियतेऽस्माभिरयं कातन्त्रविस्तरः॥
अभियोगपराः पूर्वे भाषायां यद्बभाषिरे।
प्रायेण तदिहास्माभिः परित्यक्तं न किञ्चन॥

सिद्धो वर्णसमाम्नायः। सकललोकप्रसिद्धः प्रसिद्धसंज्ञासहित इह शास्त्रे वर्णसमाम्नायो वेदितव्यः। वर्णाः अकारादयः। तेषां समाम्नायः पाठक्रमः। तत्र चतुर्दशादौ स्वराः। तत्र सिद्धवर्णसमाम्नाये आदौ चतुर्दश वर्णाः स्वरसंज्ञा भवन्ति। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ। लृवर्णस्य स्वरसंज्ञया किं प्रयोजनं।* योऽपि लकारं पठति लृच्छादय इत्यादि। स्वरप्रदेशाः। स्वरोऽवर्णवर्जो नामि इत्येवमादयः। दश समानाः। तस्मिन् वर्णसमाम्नायविषये आदौ दश वर्णाः समानसंज्ञा भवन्ति। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ। लृवर्णस्य समानसंज्ञया किं प्रयोजनं। गम इत्याख्यादजीगमदित्यादौ सन्वद्भावो न भवति। समानप्रदेशाः। समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्चलोपम्, इत्येवमादयः। तेषां द्वौ द्वावन्योऽन्यस्य सवर्णौ। तेषामेव दशानां समानानां मध्ये यौ यौ द्वौ द्वौ वर्णौ तावन्योन्यस्य सवर्णसंज्ञौ भवतः। अआ इई उऊ ऋॠ ऌॡ। द्वयोर्ह्रस्वयोर्दीर्घयोश्चान्वर्थबलाद्व्यतिक्रमे च तेषां ग्रहणस्य क्रमविवक्षार्थत्वात्सवर्णसंज्ञा सिद्धेति। लृवर्णस्य सवर्णसंज्ञया किं प्रयोजनं। शक्लृकार इति लत्वं न भवति। सवर्णप्रदेशाः। समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्च लोपम् इत्यादयः। ऋकारलृकारौ च। अन्योन्यस्य सवर्णसंज्ञौ भवतः।

× × × ×

†—'विरामे वा' अनेन सूत्रेण पदान्तो मकारोऽनुस्वारमापद्यते।

मध्य भाग—(पूर्व पृष्ठ १२६, पंक्ति १०)

नाम्नां समासो युक्तार्थः। नाम्नो च नामानि च (?) नाम्नां समुदायो युक्तार्थः समास-संज्ञो भवति। यदि वा युक्तश्चासावर्थश्चेति शब्दोऽपि तथार्थाभिधानाद्युक्तार्थः। संज्ञेति युक्तार्थस्तु नरसिंहवदखण्डः तदभिधायिवाक्याद्भिन्नः। समासराशिः सिद्धः। तस्थालोप्या दिभिर्विभक्तिलोपविधानादर्थाद्वाक्यमेव वा समासीभवति। नीलोत्पलं। पञ्चगुः। कष्टश्रितः। चित्रगुः। देवदत्तयज्ञदत्तौ। उपकुंभं। स पुनः समासः क्वचिन्नित्यः। कृष्णसर्पः। लोहित-शालिः। ब्राह्मणार्थापूपाः। सप्तर्षयः। क्वचिद्विकल्पः। राज्ञः पुरुषः। राजपुरुषः। क्वचिन्न-भवति। दीर्घश्चारायणः। रामो जामदग्न्यः। व्यासः पाराशर्यः। अर्जुनः कार्तवीर्यः। नाम्नामिति किं। कार्याणासमासान्तासमीपयोरिति (?)णल्पविकल्पो न स्यात्। युक्तार्थ इति किं। पश्य कष्टं श्रितश्चैत्रो राजकुलं। औद्धस्य [ऋद्धस्य] विशिष्टस्यापत्यमित्यत्रार्थे विशिष्टापत्य-मिति न स्यात्।

× × × ×

अन्तिम भाग —

स्वार्थे अण्। तदन्तादिप्रत्ययः। स्वागतादीनां वृद्धिप्रतिषेधौ न भवतः। शोभनमागतं तदाह स्वागतिकः। सुष्ठु अध्वरः स्वध्वरः। तेन चरति स्वाध्वरिकः। शोभनानि तान्यंगानि यस्य स्वांगस्तस्यापत्यं स्वांगिकः। एवं व्यांगिः। व्याडिरिति केचित्। व्याडस्यापत्यं व्याडिः। विगतोऽवहारो विशेषेण वावहारः। तेन चरति व्यावहारिकः। व्यायामिकः। स्वागतः। स्वध्वरा। स्वंगा। व्यंगा। व्याडः। व्यवहारः। व्यायामः। स्वादेरिति श्वन्शब्दस्येकारादौ तद्धिते वृद्धिरागमो न भवति। श्वभस्त्रस्यापत्यं श्वाभस्त्रिः। श्वाशीर्षिः। शुनां गणस्थेन चरति श्वागणिकः। श्वायूथिकः। आदिग्रहणात्केवलस्य निषेधः। श्वभिश्चरति शौविकः। इकारादाविति किं। शौवादंष्ट्रो मणिः। इणश्चादेः। इण्प्रत्ययान्तस्य सणे तद्धिते वृद्धिरागमो न भवति। श्वाभस्त्रेरिदं श्वाभस्त्रकं। श्वाकर्णेरिदं श्वाकर्णकं। अणि लुप्तेऽपि तत्कृतः प्रतिषेधो भवत्येवेति। अनर्थकमेतदिति चांद्राः। पदस्यानीति वा। श्वशब्दादेः पदशब्दस्यानिकारादौ वा वृद्धिर्न भवति। शुनः पदं श्वपदं। तस्येदमित्यण्। शौनपदं। श्वपदं। अनिनीति किं। श्वपदेन चरति श्वापदिकः। श्वन्शब्दस्य द्वारादिपाठात् तत्र तदादिविधेर्ज्ञापितत्वान्नित्यं प्राप्ते विकल्पो विधीयते। न्यंकोश्च। सणे तद्धिते वृद्धिरागमो वा भवति। न्यंकोरिदं न्यांकवं।

इति श्रीमत्कर्णदेवोपाध्यायश्रीवर्द्धमानविरचिते कातन्त्रविस्तरे तद्धिते दशमप्रकरणं समाप्तम्।

इस 'कातन्त्रविस्तर' के मूल सूत्र के रचयिता शर्ववर्मा हैं। वे मूल सूत्र कातन्त्र, कौमार एवं कलाप के नाम से प्रसिद्ध हैं। कातन्त्र में संस्कृत व्याकरण का विषय ऐसे सुन्दर ढंग से गुंफित किया गया है जो अधिक विस्तृत न अधिक संक्षिप्त ही कहा जा सकता है। साथ ही साथ सरल भी है। हाँ, इसमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं। स्त्रीप्रत्यय, तद्धित आदि कुछ प्रत्ययों की मुष्टिमेयता एवं सार्वधातु-असार्वधातु का पार्थक्य आदि ही ये त्रुटियाँ हैं। फिर भी मध्यमरूप से व्याकरण की शिक्षा पाने के लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उत्तम है। और और प्रान्तों की अपेक्षा बंगाल में इसका अधिक प्रचार है। इसके प्रणेता शर्ववर्मा जैन थे या जैनेतर यह अभी विवादग्रस्त है। महाकवि सोमदेव भट्ट-रचित कथा 'सरित्सागर' में इस ग्रन्थ की उत्पत्ति की एक कथा मिलती है। उससे इसके निर्माता शर्ववर्मा अजैन सिद्ध होते हैं। किन्तु दिगंबराचार्य भावसेन त्रैविद्यदेव अपनी 'रूपमाला' नामक टीका में कातन्त्र को जैनग्रन्थ घोषित करते हैं। बल्कि 'कातन्त्रविस्तर' और 'रूपमाला' नामक दिगम्बरीय टीकाओं के अतिरिक्त कातन्त्र पर श्वेताम्बरों की भी कई टीकायें उपलब्ध होती हैं।† अस्तु, कातन्त्र के रचयिता के संबंध में विशेष खोज करने की आवश्यकता है।

उपर्युक्त 'कातन्त्रविस्तर' के रचयिता वर्द्धमानजी हैं। 'भवन' की यह प्रति अपूर्ण है, इसलिये आपकी गुरुपरम्परा आदि का कुछ भी पता नहीं लगता। प्रस्तुत प्रति मूड़बिद्री जैनमठ के ग्रन्थ-भाण्डार में वर्तमान एक तालपत्रीय प्रति की नकल है। वहाँ की वह प्रति भी अधूरी है। स्वर्गीय बा० पूरणचन्द्रजी नाहर ने 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग २, किरण १ में प्रकाशित 'धार्मिक उदारता' शीर्षक अपने एक लेख में वर्द्धमानजी को श्वेतांबर लिखा है। ज्ञात नहीं होता है कि आपके इस कथन का आधार क्या है। क्योंकि 'जैन-साहित्यनो इतिहास' एवं 'जैनग्रन्थावली' आदि में इस बात का कुछ भी संकेत नहीं मिलता है। बल्कि नाहरजी ने उक्त लेख में इन्हें सूरी (आचार्य) के रूप में उल्लेख किया है। पर 'कातन्त्रविस्तर' की इस प्रति में उपलब्ध किसी भी प्रकरण के अन्त में वर्द्धमान इस नाम के साथ 'सूरी' शब्द नहीं मिलता है। हाँ, 'कर्णदेवोपाध्याय' यह विशेषण अवश्य मिलता है। पता नहीं लगता है कि वर्द्धमानजी के द्वारा प्रतिपादित यह कर्णदेव कौन हैं। इन सब बातों को हल करने के लिये ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति अत्यधिक अपेक्षणीय है। आशा है कि किसी ग्रन्थालय में 'कातन्त्रविस्तर' की पूर्ण प्रति हो, वहाँ के उदार विद्वान् उस प्रशस्ति की अविकल नकल हमारे पास भेजने की कृपा अवश्य करेंगे।

---

† देखें—'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग २, किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VIII JUNE, 1942. No. I.

Edited by

Prof. Hiralal Jaina, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamta Prasad Jaina, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3, Foreign 4*s*. 8*d*. Single Copy Rs. 1-8

CONTENTS.

		Pages.
1	Some of the Latest Institutions and Journals and their work in the field of Prākrit Studies, etc.—By Dr. A. N. Upadhye	1—7
2.	Does Udayana Refer to Joindu ?—By Dr. V. Raghvan, Madras	8
3.	Magic and Miracle in Jaina Literature—By Kalipada Mitra, M A., B L.	9—24
4.	A Contemporary Manuscript of the Hastasanjivana Bhāṣya of Meghavijayagaṇi, belonging to Raghunātha Mahādeva Ghāte—between A. D: 1680 and 1700 —By P. K. Gode, M.A.	25—29
5.	The Jaina Chronology—By Kamta Prasad Jain, LL., D., M. R. A. S.	30—35
5.	Nārāyanas, Pratinārāyanas and Balabhadras—By Dr. Harisatya Bhattacharya, M.A., B.L., LL. D. ...	36—40
6.	Reviews	41—44

Om

The JAINA ANTIQUARY

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. VIII
No. I

ARRAH (INDIA)

June,
1942

SOME OF THE LATEST INSTITUTIONS AND JOURNALS AND THEIR WORK IN THE FIELD OF PRĀKRIT STUDIES, ETC.[1]

By
Dr. A. N. Upadhye

It may look strange, but it is a fact that though the material was available on the Indian soil, the credit of the pioneer work of assessing its value and interpreting its significance to the modern world goes to Western scholars, especially the great savants working in the Indological departments of European Universities. Many of them were inspired by a zeal for learning and scientific study quite characteristic of the last century. For decades together the march of Sanskrit and Prākrit studies was led by German scholars of great repute. They have given excellent methods to us, and they are like ideals to us to inspire us by their patient labour, scruitinising system, methodical thoroughness and maturity of judgment. Our

1. This forms a portion of the Address delivered by Prof. A. N. Upadhye, as the President of the Prākrit, Pāli, Ardhamāgadhi (Jainism and Buddhism) Section of the Eleventh All-India Oriental Conference, Hyderabad, December 1941.

traditional methods require rejuvination in the light of the progress of Oriental studies in the West At present we are passing through a transitional period. The old generation of veteran Indologists is fast disappearing in the Western Universities; the materialistic forces let loose under the auspices of nationalistic madness are destroying whatever little good was there in the Western Civilization and Culture; the younger generation has not got that mental quiet; and there is such an all round obsession due to the cataclysms in domestic affairs that hereafter the attention of Western scholars towards Indian studies is sure to disappear gradually. In India, on the other hand, there is national awakening everywhere; and many scholars are devoting their time to the study of different branches of Indology. I have the highest respect for all that the Western savants have done for Indian studies. But we too have to be alive to our duties towards our ancestors who have left to posterity the great heritage of literature. Our ancient centres of learning like Nālandā and Takṣaśilā did attract students from abroad. That reputation has to be recovered once more. It is in the fitness of things that Sanskrit and Prākrit studies have to be carried on by Indian scholars at the front. Our ancient ideals must be pursued according to modern methods What is needed is strenuous and methodical labour coupled with earnest devotion and singleness of purpose. The sons of that land that produced Pāṇini and Hemacandra need not be despondent: only they have to put forth skilled and organised work as the time requires to-day. In later years some new Institutions have come into existence; and their arms and activities, so far as they are connected with this section, might be reviewed here.

The Deccan College Post-graduate and Research Institute has been started under the auspices of the Government of Bombay. Remembering the great traditions of Sanskrit learning associated with the Deccan College, the zeal with which this Institute has been started and that it has been founded in a prominent educational centre like Poona, there are reasons to hope that it would soon establish itself as a research centre of an all-India repute with its eminent Professors leading the front of Indological studies in various

lines. The departments, so far opened, do testify to a comprehensive outlook; but one fails to understand how the Bombay Government and its advisers omitted to assign a chair for Prākritic languages along with those of Linguistics and Sanskrit. It is a gap that is detrimental to an all-sided study of Indian literature and comes like a reversal of the long-standing and well-planned policy of the Government of Bombay. For decades together valuable Prākrit Mss. were collected by the Bombay Government, and now they are deposited in the Bhandarkar O. R. Institute. This is one of the richest treasures of Prākrit Mss. Important Prākrit texts were edited by Pandit and others and published in the Bombay Sanskrit and Prākrit Series. Valuable Reports were compiled by Peterson, Bhandarkar and others; and they were published directly or indirectly under the Government patronage. After collecting such valuable material and doing so much spade-work, the Government and its advisers should have assigned a separate Department for Prākrit studies. Still it is not too late to fill this gap. The Bulletin of the Institute (Vol. I) contains the following papers connected with this section. H. D Sankalia: Jaina Yakṣas and Yakṣiṇis and the so-called Buddhist Images from the Baroda State; S. M. Katre: The roots of the Pāli Dhātupāṭhas; M. A. Mehendale: Ṭakki or Ḍhakki; R. D. Laddu: The Prākrit stanzas in the Kavindracandrodaya. Some of the papers connected with Prākritic languages testify to the fact that there is much unworked material in Prākrits and that consequently there is a need of a special department for Prākrits.

Vīrasevāmandira of Sarsawa (Dt. Saharanpur) is an academic enterprise of Pt. Jugalkishore to start a centre for research in Jaina literature We have in him a first-rate living authority on various problems connected with Jaina literary chronology. Under his editorship the Mandira issues a Hindi monthly which has published a good deal of valuable material in the last two years Pt. Jugalkishore has discussed many important topics: The relative age of Kundakunda and Yativṛṣabha (II, 3 ff.); Earlier glosses on the Bhagavatī Ārādhanā (II, 57 ff); Pūjyapāda and his works (II, 400 ff; 443 ff.); Tattvārthasūtra of Prabhācandra (III. 394 ff, 433 ff.); and Piṅgala of Rājamalla (IV. 245 ff., 303 ff.). Pt. Paramananda is

doing very useful work, and some of his contributions have brought important facts to light; some of his important articles are : Kundakunda and Mūlācāra (II 222 ff., 319 ff); Bhagavatī Ārādhanā and Vijayodayā (II. 371 ff., 437 ff.); Pañcasaṁgraha, Gommaṭasāra and the Karmaprakṛti (III. 256 ff., 279 ff., 378 ff, 537 ff.); Siddhasena's indebtedness to the Sarvārthasidhi (III, 629 ff.); and on the seeds of the Tattvārthasūtra (IV. 17 ff.). Pt. Mahendrakumar has discussed the date of Prabhācandra (II. 61 ff., 215 ff., IV. 124 ff.) and has brought to light the Ms. of Sātyaśāsanaparīkṣā of Vidyānanda (III. 660 ff.). Mr. Agarchand Nahta is doing useful work on the Mss. from Rajputana, and he has written on the following topics. Various works on the life of Śrīpāla (II. 155 ff., 428 ff.); Digambaras and Śvetāmbaras (II. 543 ff.); and Padmasundara and his works (IV 470 ff). The discussions of Pt. Jugalkishore (II. 485 ff., 685 ff.); Pt. Dipachanda Pandya (II. 611 ff.) and Pt. Premi (II. 666 ff.) have fully brought to light not only a complete Ms. of Jagatsundarīyogamālā, a medico-tantric text in Prākrit, but also a good deal of information about it and its relation with Joṇipāhuḍa. An informative article of Muni Chaturavijayaji on Bhadrabāhu is translated into Hindi (III. 678 ff.). Pt. Premi in some of his articles has brought new facts to light and in others supplemented his earlier discussion: Researches into Yāpanīya literature (III 59 ff.); Āśādhara (III 669 ff., 695 ff.), Śrīcandra and Prabhācandra (IV. 82); and Mahākavi Puṣpadanta (IV. 403 ff.). Whether Akalaṅka is indebted to the Tattvārtha-bhāṣya has been discussed with much fervour by Prof. Jagadishchandra, Pt. Jugalkishore and others (III. 304 ff., 623 ff., 666 ff., 728 ff.). When the sentiments ebb away, the facts will clearly stand out; and the dispassionate student would be able to pick them up in their proper perspective after some time. Prof. Hiralal has given his observations on the Pañcasaṁgraha and the Karmaprakṛti (III 409 ff., 636 ff)

The Bhāratīya Vidyā Bhavana, Bombay, owes its existence to the academic zeal of Sri K. M. Munshi and the liberal patronage of Sheth Goenka. It aims to be an association which will organise active centres where ancient Āryan learning is studied and where modern Indian culture is provided with a historical back-ground.

Through the munificence of different donors, the Institution is equipped with various departments; and we are glad to note that besides Sanskrit and Comparative Philology, a department of Prākrit languages also has been organised. We may entertain legitimate hopes that the Institution will be a guiding centre for the study of Sanskrit and Prākrit philology and the history of Prākrit literature for which rich material lies neglected in the Bhaṇḍāras of Western India. In the near future it should be possible for this Institute to equip the departments of Philology, Prākritic languages and Jainism with ready accessories in the form of select topical bibliographies, card indexes for journals and books, critical summaries of important papers in magazines etc., so that the Institute might become an useful bureau of information for Oriental scholars, working in these subjects, all over the world. Thus the need of a central organisation for co-ordinating the results of research-workers, so far as Jainism and Prākrits are concerned, might be partly fulfilled.

This Institute has started a Series for the publication of works, the first volume of which is the Visuddhimagga edited in Devanāgarī characters in a nice form by Śrī Dharmananda Kosambi by whose labours this edition occupies a distinct place among the Pāli texts. Further it conducts two journals : one half-yearly in English and the other, a quarterly in Hindī-Gujarāti In the last two volumes of the English Journals we have the following contributions connected with this section. A. S. Gopani : Characteristics of Jainism (I. 168 ff.); Ājīvika sect, a new Interpretation (II. 201 ff, III 47 ff.); and Riṣṭasamuccaya (being published as a supplement). Jinavijayaji : Kuvalayamālā (II 77 ff., 211 ff.). S M. Katre : New Approach to the Study of Middle and Modern Indo-Aryan (I. 135 ff) and Some Problems of Historical Linguistics in Indo-Aryan (II 220 ff.). Kosambi : On the Life of Buddhaghoṣa (I. 113 ff.). P. T. Raju : Nāgārjuna's Conception of the Śūnya (II. 43 ff.). V. S. Sukthankar : The position of Linguistic Studies in India (II 23 ff). A N. Upadhye : Gommaṭa (II 48 ff), Vālmikisūtra, a Myth (II. 160 ff.) and Siricimdhakavvam of Kṛṣṇalilāśuka (III. 61 ff) In the Hiṇdī-Gujarāti quarterly we may note the following articles. Bechardas : Etymology of some Sanskrit and Prākrit Words (I 381 ff.). M. D.

Desai: A Jaina Gurvāvalī in old-Gujarati prose written in Saṁvat 1482 (I. 133 ff.) Jinavijayaji: The Royal saint Kumārapāla (I 221 ff.). M C. Modi: Svayambhū and Tribhuvana Svayambhū, the two Apabhraṁśa poets (I. 157 ff., 253 ff.). S. M. Nawab: Old Jaina Images from Gujarāt (I. 179 ff.). Sukhalalaji: Pramāṇamīmāṁsā of Hemacandra (I. 9 ff.). The latest number gives two important supplements: Bharateśvara-Bāhubali Rāsa, the earliest Gujarāti poem and the first forme of Abdul Rahman's Saṁdeśa Rāsaka in Apabhraṁśa, both of which are ably edited by Śrī Jinavijayajī

The Jaina Vidyā Bhavana is lately founded at Lahore 'with the object of creating a centre of Jaina studies.' A comprehensive programme is chalked out for advancing Jaina studies which are 'quite indispensable for a full understanding of India's past. The programme includes the 'reconstruction of a comprehensive history of Jainism' which, as far as I know, has not been undertaken by any Institution. Of this there is an urgent need; and the Bhavana can co-operate with Bhāratiya Itihāsa Pariṣad, Benares, in completing the 3rd volume of the National History of India planned by the latter. The first number of the Jaina Vidyā, the Anglo-Hindī Quarterly of the Bhavana, contains some important articles. A. M. Ghatage: The title Mūlasūtra. M D Desai: Some Farmans granted by Akbar to the Jainas. P. K. Gode: The date of Nāṭyadarpaṇa, between A. D. 1150 - 1170 Becharadas: The various Names of Mahāvīra (in Hindī). With the co-operation of Motilal Banarasidas and Mehrachand Lacchmandas it should be possible for this Journal to publish an up-to-date list of published Jaina works month to month.

The Jaina Research Society, Delhi, and C. P. Berar Jaina Research Institute, Yeotmal, are some of the latest institutions; but as yet we are not fully acquainted with the work carried on by them.

I have referred to the activities of some of the latest Institutions so far as they come under this section. The rise of the Institutions is quite in tune with the spirit of the time. Further it is necessary

that every one of these institutions in consultation and co-operation with others, old as well as new, should see that there is no duplication of work and no waste of labour. Specialisation, so far as it is practicable, is necessary on the part of these institutions so that all of them together contribute to the advancement of knowledge in different branches of Indology. Luckily much work has been done in the fields of Pāli and Buddhism. But in contrast to the wealth of material and the problems that face us in Prākritic and Jaina studies the number of serious workers in the field has been unfortunately very small.

DOES UDAYANA REFER TO JŌINDU?

Dr. V. Raghvan, Madras.

On page 57 of his Introduction to the Paramātmaprakāśa of Yogīndu, edited by him as No. 10 of the Rāyachandra Jaina Śāstramālā, Dr. A. N. Upadhye says about the name of the author that Jōindu or Jogīndu or Yogīndu is the correct name of the author and that, by a mistake, the Sanskrit form Yogīndra had become popular.

On pp. 63–67, ibid., Dr. Upadhye discusses the date of Jōindu and concludes that the date falls between those of the Samādhiśataka and the Prākṛta Lakṣaṇa. Since Jōindu "closely follows Samādhiśataka of Pūjyapāda" and since "Pūjyapāda lived a bit earlier than the last quarter of the 5th cent. A. D.", the upper limit of the date of Jōindu can be taken as the last quarter of the 5th cent. A. D. The lower limit is furnished by Caṇḍa one of whose illustrative dōhās in his Prākṛta Lakṣaṇa happens to be from Jōindu's Paramātmaprakāśa. Dr. Upadhye notes some want of settlement on the question of Caṇḍa's text and date and says in conclusion that the revised form (of Caṇḍa's work) can be tentatively placed about 700 A. D.

In view of the difficulties relating to this lower limit evidence, i.e., Caṇḍa's Prākṛta Lakṣaṇa, I may add here a note on what I take to be a reference to Jōindu by an author of known date. If we leave Caṇḍa, the next limit suggested by Dr. Upadhye is Devasena who finished his Darśanasāra in A. D. 933. This evidence rests on the similarities of some verses of Devasena and Jōindu. If, on the other hand, there is a definite mention of the writer, it would be a more conclusive evidence. Such a mention, I think, is available.

Udayanācārya wrote his Lakṣaṇāvali in A. D. 984. In his Ātmatattavaviveka, Chowk. Skt. Series, 1940, p. 430, we read the following :—

"'वेदविद्वेषिदर्शनान्तःपातिपुरुषप्रणीतत्वात्'
इति मा शङ्किष्ठाः, जिनेन्द्रजगदिन्दुप्रणीतेष्वप्यादरात्।"

I think the name *Jagadindu* in the above passage is a slight corruption of Jōindu or Yōgīndu.

If this suggestion is acceptable, Udayana's date will give a definite lower limit and will clearly prove the untenability of any later dates proposed for Jōindu. (See Dr. Upadhye's Foot-note on p. 67 of the Intro. on the date proposed by Mr. M. C. Modi).

MAGIC & MIRACLE IN JAINA LITERATURE

By

Kalipada Mitra, M.A., B.L.

(Continued from Vol. VII No. II, page 88.)

Cowell and Rouse translate *Vāruṇī* as "one possesst." Rhys Davids compares Maddī with a Vāruṇī woman who used to prophesy under the professed influence (āveśa) of god Varuṇa. The P. T. S. dictionary gives the following meanings of Vāruṇī: an intoxicated woman; female fortune-teller, J. VI. 500; *devatā-bhūta-paviṭṭhā, yakkha-dāsī viya gahitā, ikkhaṇikā viya.* The *Siṅgālovāda-uttanta* (D.N. xxxi) has "*akkh-itthiyo Vāruṇī.*" The Pali Commentary has: *yakkhāviṭṭhā ikkhaṇā* The P. T S dictionary explains *yakkha-dāsī* as "a female temple-slave" or perhaps possessed by a demon (? J vi. 501 (v. i), *BB. devatā-paviṭṭhā*, cf. 586). In the *Āvaśyakasūtra* we read (Part I. p 219): *Itthī puriso vā jakkhāiṭṭho pīyamajjo vā jāto kāyavikkhevakiriyāto daṃsei sā viḍaṃbanā.* In the *Upamiti* we read of magic contrivances to ward off diseases, which among others consist of asking questions, summoning *yoginis* etc., (*avataritāh praśnāh ..abhyarthitāh yoginyah...*)

It seems that the female temple-servant (*devaadāsī*) was sometimes used as a medium for communicating oracular answers by causing her to be possessed by some god or spirit, so that she also became a *devadarśinī* or seeress. This practice (as well as similar practices, *e.g. Kumāripañha*, or obtaining oracular answers from a girl supposed to be possessed by a spirit, *D.* I. 11 = *D.A.* i. 197) was of course condemned by the Buddha, but it had such a fascination for the people, that we may conjecture that it was nevertheless practised, though sometimes clandestinely.

In Vātsyāyana's *Kāmasūtra* 4. 1. 9 the wife is warned against associating with an *ikṣaṇikā* or a fortune-teller. The Commentator explains *ikṣaṇikā* as *viprasnikā*; *ikṣaṇikā* is derived from the verb

īkṣ to see, *viprasnikā*, from *pracch*, to ask. One who has to tell another's fortune pretends to see the future, and in this sense may be an *īkṣaṇikā*, but what has she to do with questioning so as to be *viprasnikā*? Evidently in order to be able to tell the future, she pretends to ask some spirit-possessed person her questions and to get answers, as interpreted in the Jaina commentary mentioned above.

There is reference to this science of questioning in Jaina literature, known as *pasiṇavijjā*, e.g., in the *Ṭhāṇāṅgasutta*, 10, and *pasiṇāpasiṇa* in *Pravacanasāroddhara* 2, and *Bṛhatkalpabhāṣya*, etc. By means of a magic spell a deity or a spirit was invoked, and it was compelled to appear either in dream or trance, and then was caused to give oracular answers, to say why such and such a thing happened, how a particular calamity was to be averted, whether a particular undertaking was to be fruitful or fruitless etc. In the *addāapasiṇa* a deity was caused to appear in a mirror and was asked questions. Even it was believed that the particular disease which attacked a person could be made to be reflected in a mirror (*addāavijjā* in *Vavahārasutta*) and be asked to leave the patient. This shows that the disease was regarded as an evil spirit and could be exorcised—an idea which has persisted since the time of the Atharvaveda. People believed that deities appeared in dreams and announced future events, e.g. in *Pārśvanātha* (Bloomfield, p. 179) the parrot who had become a god visited a person in a dream and told him that he would die at the end of seven days, or warned people against their transgressions (see *Samarāiccakahā*, p. 292: *tao sumiṇayammi coiyā ahaṃ bhayavaie*). They could also be compelled by means of magic to appear in dreams or trance to answer their questions. Portents from *ruya* or sounds of birds and animals, *nimittas* etc. I propose to treat separately under the heading "Dreams and Omens."

Sakka came to the lying-in room and told the mother of Tīrthaṅkara Ṛṣabha that he had come to celebrate his birth. By magic he put them all to sleep (*osoyaṇim dalai*), made an image of Tīrthaṅkara which he placed by the side of the mother and created five Sakkas...and transported the babe to the Mandara hill. He does the same thing in the case of Tīrthaṅkaras Supārśvanātha and

Pārśvanātha.[21] Harinegameṣī while transferring the foetus of Mahāvīra from the womb of Devānaṃdā to that of Triśalā puts Devānaṃdā and her attendants to magic sleep (*Devānaṃdāe saparivaṇāe osoyaṇiṃ dalei*). Draupadī is in this way put to sleep in *Nāyādhammakahā*[22] by a god and abducted to King Paumanābha's Asoka park in Amarakaṅkā, his capital. *Osayaṇī* or *osāvaṇiyā* is *avasvāpanī* or *avasvāpanikā* (from root, *svap*, to sleep) or sleeping charm. We find reference to it in *Pariśiṣṭaparvan*, 2,173, and to *avaśvāpinī* in Rauhiṇeya Carita 14, *viz.*

kathayitvā khaned garttaṃ dattvāvasvāpinīmapi ।
yāti jṛgarayitvā so'kalanīyaś ca duhsahah ॥

Prabhava, the bandit son of Vindhya, King of Jaypur, and the Chief of the gang of robbers had two spells, *viz.* (1) *avasvāpaṇikā* for casting all asleep, and (2) *tālodghāṭinī* for opening locks. He could put even walking persons to sleep, but *avasvāpaṇikā*, "this aristocratic spell, had no effect on Jambu",[23] for he was a *bhāvayāti*, about to renounce the world. When the robbers entered the room of Jambu, he warned them not to touch one of his sleeping wives. Prabhava asked him to be his friend and give him the spells of *stambhanī* and *mokṣaṇī* in exchange for his two spells.[24] In *Supāsanāha.* (p. 221) a thief stole without being seen. The king caused him to be brought to his presence by means of his *Ceṭaka* spell. He asked the thief;

kaham na musanto disasi sa bhaṇai osoyaṇīe vijjāe ।
sovāvīṇa loyaṃ musemi sicchāe gharasāyaṃ ॥ 378 ॥

---

21. *Supāsanāhacaria*, p. 47,

Iya thoūṃ jiṇajaṇaṇiṃ avasovaṇidānapuvvayaṃ Sakko ।
Thabiūṇaṃ veyuvviyajiṇapaḍirūvaṃ jaṇaṇipāse ॥

Pārśvanātha (Bloomfield) p. 233 : Sakka (Indra) casts *osovoniyī* in 5. 85 and takes it away in 5. 113.

22. *Op. cit.* p. 214 ; dovatīye osāvaniyam dalayi...dovatiṃ devīṃ giṇhai...

23. Stevenson—*Heart of Jainism*, p. 69.

24. *Pari*, Canto II Sls, 171—184.

In the *Divyāvadāna* (story of Makandika) the seraglio was thus put to sleep (*antahpurasya āsvāpaṇam datvā*). [25]

In the story of Bandhudatta, narrated in the life of *Pārśvanātha* (p. 75) we read that a thief frightened by a Muni's exposition resorted to asceticism, under the instruction of his *guru*. Out of regard for him the teacher had bestowed on him the sciences (*vidyā*) of going through the air and of opening locks, with the proviso, unless he preserved purity of life and avoided lies he would lose them. But in case he did lie from carelessness, he was to stand in the water up to his navel and with arms held upward recite the *vidyās* 1008 times. He jocosely told a lie and did not perform the expiation for this lie. He committed theft by night, and was seized by the guards, whereupon the *ākāśagāminī vidyā* left him [26]. The same story is told in *Samarāiccakahā*, p. 230. In the *Nāyādhammakahā* (p. 237), Cilāe, the leader of the gang of robbers intending to loot the house of merchant Dhanna and especially to seize his daughter Suṃsumā for himself, comes by night to the eastern gate of Rāyagiha, recites (*āvāhei*) the *tālugghaḍāṇivijjāṃ*, sprinkles water [27] on the gate and opens it. It has been claimed for each one of the 44 verses of the *Bhaktāmarastotra* of Mānatuṅga, that if repeated it could break open a locked door [28].

The *stambhanī* (*thambha*, or *thambhaṇa*, *thambhaṇī*) *vidyā* has the effect of stunning or making one motionless [29] and *mokṣaṇī* of dissolving the spell, bringing about release. There is mention of *jambhaṇī vidyā* in *Sūyagaḍaṃga* (2. 2. 15) and *Paumacaria* (7, 144),

25. cf. the *Telapatta-jātaka*.

26. cf. for *Tāludghāṭinī vidyā Pārśvanātha*, 8. 158, and *Vasudevahiṃḍi*.

27. Water had magic property. cf. Harṣa's *Priyadarśikā* (p. 88, Nariman and Jackson) for use of water before reciting a charm and for beginning incantation to counteract the effect of poison taken by the heroine

28. Stevenson, *op. cit*, p. 80.

29. *Sūyagaḍaṃga*, 2. 2. 15 ; *Supā*, 493, 599 ; *Nāyā*. 1. 16. *Kumāraprati* p. 125, " to joginā pautta iṃtassa thambhaṇī vijjā ; p. 405, devie thambio dhanio... thambhovva thiro nipphaṃda loyano ; p. 469,

which apparently had paralysing effect. Probably it caused people to yawn (*Vijṛmbh*). Lava paralyses the army through the aid of the *jṛmbhaka* weapons.

The magical power of flying through the air was well known. It was condemned by the Buddha as *uttarimanussadhamma* [30]. The Jaina saint Pādalipta acquired the magical power of flying through the air by applying medicinal ingredients to his feet, and daily performed pilgrimage of the five sacred places including Śatruñjaya (Palitana and Girnar or Ratnagiri [31]. A story is related in *Pari* how Vajra obtained the lore of flying through the air. Some Jṛmbhaka gods, in order to test the character of Vajra, who was destined to be a monk, produced by magic an encampment, made out a laager of carts (*maṇḍalakṛtaśakaṭaṃ*), spread out goods for sale, stabled horses, bulls and camels etc., and invited the Ācārya to get alms from them. He sent Vajra for the purpose; the latter returned as imperceptible rain-drops were still falling. The gods caused the rain to cease entirely, and Vajra went out to collect alms, but perceiving that the things given were out of season, and the donors' eyes did not twinkle nor did their feet touch the earth (*dātaropyanimeṣākṣā abhūspṛkcaraṇā iti*) he concluded that they were gods, from whom the Jaina monks were forbidden to take alms. The gods revealed themselves to him, and, satisfied with him for his correct conduct, gave him the *Vaikriya* spell (*vaikriya labdhyākhyāṃ vidyāṃ*). He was tested again and rewarded with the

30. *C. V.*, V. 8. 2. The Buddha reprimanded Piṇḍola Bhāradvāja for flying through the air (*vehāsam abbhugantvā*) thrice round Rājagaha; " *kathaṃ hi nāma tvaṃ Bhāradvāja chavassa dārupattasa kāraṇā gihinaṃ uttarimanussadhammaṃ iddhipāṭihāriyaṃ dassessasi.*" Sariputta and Moggallana flew through the air, Āyasmā Sāgata (M. V., v. 1. 5-8) and Āyasmā *Pilindavaccha* (M. V. vi. 15. 8-9) showed *uttarī iddhi.*

31. Jhaveri—Pādaliptasuri's *Nirvāṇa-kalikā*. Intro p. xi, quoted by C. J. Shah—*Jainism in North India*. p. 190. See also Stevenson, *op. cit.*, footnote 1 to p 78; and Tawney's *Kathākośa*. p. 95.

ākāśagāminī spell [32]. The Vidyādharas had this faculty of going through the air [33]. Prince Jayadratha obtained from goddess Vairoṭyā two pills (*guṭike*), the one of which thrown into the mouth gave him the power of flying through the air, and the other, the power of assuming the desired form [34].

It is related in *Pari* that once a dreadful famine in Northern India caused immense distress and the monks could not get alms. Vajra created by magic "a large carpet on which he bade all the monks stand. The carpet flew up in the air with the Samgha assembled on it" (p. 325, *paṭaṃ vicakre vipulaṃ cakrabhṛccarmaratnavat*). The carpet landed them in Puri. The king of Puri was a Buddhist and so were some of the inhabitants, but the majority were Jainas. At one time the king forbade selling flowers to Jainas, whereupon Vajra went through the air to the garden of Hutāśana and then to the Himalaya and Padmahrada, and thereafter returned with Śrīdevi's lotus and twenty lakhs of flowers from the park of Hutaśana to Puri The miracles induced the Buddhist king and his subjects to adopt the Jaina faith [35].

It is said that Vajra possessed the *padānusṛti vidyā* since his birth (*janma-samṣiddhipadānusṛti-labdhinā*). Jacobi says that it is derived

---

32. *Pari.* Canto XII, Sls. 140-60 pp. 307-9; Sls. 280-91, 307-309, for his magical powers; also the *Āyāraṅga*. Dr Jacobi remarks that the possession of magic spells appears to be attributed to Vajra in the legends because the sign of the Vajra is made use of by the professors of the occult art in *Pari.* p. 74.

33. *Samarāicca.* p. 339, *nahagāminī* or *nahaṅgana gāminī vijjā*; pp. 413. 414 *gayaṇagāminī vijjā*; *Kupra.* p. 126, "*sāhiyāo gayaṇagāmiṇippamuhāyo vijjāo.*" See also *Paumacaria*, 7, 144, "*āgāsagamā*;" Ovavāiya, "*āgāsāiyāi*" *vijjā*; *Surasundarīcaria*, 13, 186, *nahagamā*, 3, 28, *nahagāminī vijjā.*

34. *Kupra* pp. 361, 362, *nabhogamanasām arthyaṃ*:

Kariṣyati mukheṣiptā tavaikā vyomagāmitāṃ।
dvitīyā tvīpsitaṃ rūpamityuktvā devatā yayau ॥

35 *Pari.* Canto XII. Sls. 375-88; also Stevenson, op. cit. p. 78. She observes: The more enlightened Jainas say that this carpet really represents some modern notion of locomotion (steam engine, motorcar, or aeroplane), the secret of whose construction Vajra had anticipated.

from Prakrit *payānusārī* which may be either *padānusārin* or *padānusmārin*. Vajra remembered every word that he had heard (*Pari.* XII-161) To remember a word that one has heard before is nothing extraordinary, but to trace a word which has never been heard before must be due to magic power In *Samarā*. Dharaṇa became a *padānusārī* (p. 407, *payānusāri saṃvutto*). Once he observed a Vidyādhara named Hemakuṇḍala trying in vain to fly up into the air, as he had lost the faculty of flying, since he had forgotten one word of his spell. Dharaṇa made him recite the spell, and discovered for him that missing word (p. 414, *paṭhiyā vijjā...laddhaṃ payaṃ Dharaṇeṇa*) Dharaṇa never knew or heard the spell before, so it is not a case of remembering, but the mysterious faculty of divining one or many unuttered or unheard of words on hearing one word [36].

Pādalipta applied medicinal ingredients to his feet to enable him to fly through the air. We read in *Pari* of a Brahmanical ascetic of the Tāpasa sect who used to anoint his feet with a magical unguent to enable him to walk on the water as if it were dry land. In this way he visited the town to the astonishment of the people[37]. He bragged of the superiority of his religion and abused Jainism. Āryaśamita discovered that the Tāpasa had no real power, and wanted to show him up as an impostor. On his advice a rich Śrāvaka invited the Tāpasa to a sumptuous dinner, and washed his feet and sandals in such a fashion that no atom of the magical ointment was left on them. The Tāpasa became sad, yet he hoped that some ointment might still cling to them. After dinner he attempted to walk on the river but sank down, and was ridiculed by the crowd. Āryaśamita bade the banks of the river meet and stepped on the opposite shore. The miracle produced so great an impression on the Tāpasas that they became Jaina monks. Even without the application of unguents saints were said to have walked the waves. The Buddha and the Christ walked the waves.

36. *Ova., Bṛha*, 1, *Paṇha*, 21.

37. Canto XII, Sl. 69-99 :

Vidhya pādalepaṃ ca pāduke paridhāya ca |
jalépi sthalavat pādam vinyasya sañcacra sa ||

The *Vaikriya* spell was given to Vajra by the Jṛmbhaka gods. *Vikurva* (Pr. *Viuvva*) means to 'make by magic'. Devas and *Vyantara* gods by their own divine power could assume several forms. In the *Uvāsagadasāo*, Kāmadevajjhayanaṃ, a god assumes the forms of a *piśāca*, an elephant, a serpent and a *deva* to frighten Kāmadeva [38]. In the Āvaśyakasūtra, a deva, in order to test Vāsudeva, assumes the form of a black dog (*Kālasuṇagarūvaṃ viuvvai*). In the *Upamiti* a *vyaṃtara* god named Kālajña assumes the form of Mugdha (Kṛtamanena devaśaktyātmano *vaikriyaṃ* Mugdharūpaṃ goes to Akuṭilā, Mugdha's wife, with whom he has fallen in love and leads her to a plantain bower; meanwhile Kālajña's wife, Vicakṣaṇā who has fallen in love with Mugdha, assumes the form of Akuṭilā and leads him to the same bower. Mugdha thought that by the grace of sylvan deities he and his wife had been doubled [39]. In the life of Pārśvanātha there are many such references [40]. In Pāli literature we come across such instances, *e.g.*, Indra's assuming forms in the Illīsajātaka, Sivijātaka etc.

But forms could be assumed or changed by means of magic spells, or ointments etc. A yogī gives Prince Maṇicuḍa the science of changing forms (*rūvaparivattinī vijjā*).[41]

In *Supā* the Vidyādevī pleased with the valour of Prince Guṇarāja gives him the power of assuming any form he likes [42]

In the *Kathākośa* is related the story of Sumitra who entered a seven-storied palace in a deserted city and saw two female camels. In the window there were two vessels, in the one there was white

38. Eye māyī micchādiṭṭhi maham pisāyarūvaṃ, divvaṃ hatthirūvaṃ, sapparūvaṃ, devarūvaṃ, viuvvai.

39. *Upamiti*, pp. 244-245, bhagavatīṅāṃ vanadevatānāṃ prasādādeva dviguṇo' ham sampanno devī ca.

40. Pārśvanātha, 1, 601, thief producing by magic a big rock; 2. 352, assuming the form of lion, 2. 411, producing an excellent vimāna, etc.

41. *Kupra.* p. 126; also p. 244, 'dinno garuḍa manto rūvaparivattinī tahā vijjā"; and p. 336: "ato rūpaparāvartavidyāmādaya me priyam."

42. *Supā.* p. 151, kāmiyarūvadharatteṇa taṃ ca tuha hou maha vayaṇā ॥82॥

collyrium, in the other black. In the same place there was a collyrium pencil for the eyes. Guessing that the white collyrium had turned them into camels, he applied the black collyrium to their eyes when they became two girls of unexampled loveliness.[43] In the second story of the *Pañcadaṇḍachhatraprabandha* a cat was found with eyes smeared with white ointment (*añjana*); when black ointment was applied she turned into a lovely princess. Ṛṣidattā received from her father knowledge of herbs, one of which she put in her ear and became man, and at a suitable moment recovered her womanly form by means of another herb.[44] In *Kupra* a parivrājikā says that she has two herbs, by one of which a woman becomes a man, and by the other a man becomes a woman.[45]

Stories are related of magic places or pools reputed to possess metamorphic virtue. "In a wood on the Ganges there lived a couple of monkeys who loved each other tenderly. Once the male monkey jumped carelessly, fell down and died, but rose at once as a man, such was the holiness of the place. His spouse followed his example and became a girl of great beauty. The man hoping to become a god by repeating the experiment, jumped again but was changed into a monkey".[46]

We read of the magic power of making oneself or others invisible. Sanatkumāra received from his friend Manoharadatta a magic shawl which rendered the wearer invisible.[47] Robber Caṇḍarudra had a magic pill named *paraḍiṭṭi-mohanī*; if rubbed with water and applied to one's eyes, like collyrium, it would make him

43. Tawney—*Kathākośa*, p. 130.

44. *Kathākośa*, p. 110.

45. *Kupra*. p. 239.

Atthi maha osahi dugam gurudinnaṃ tattha nimmie tilae I

Ekāe thīpuriso bīyāe so havai itthī. II

46. *Pari*. p. 26, II, 407 ff; for parallels see Bloomfield's Pārśvanātha p. 127, *Parable of the monkey pair who became human, and other citations.*

47. *Samarāiccakahā*, p. 329, nayana-mohanābhihāṇaṃ paḍarayaṇaṃ.

invisible, even to the thousand-eyed Indra.[48] King Hariṣeṇa received from abbot Viśvabhūti the secret of preparing a collyrium which had the property of making one invisible; with this he made his daughter Ṛṣidattā invisible[49]. When for twelve years a famine lasted, Ācarya Susthita, who lived in Candragupta's capital, sent away his *gaṇa* to some other country. Two young pupils came back. They suffered from hunger unable to bear which they learnt the science of making themselves invisible by rubbing their eyes with a miraculous ointment. They then went to the palace, sat by the side of the king, and ate from his plate. Cāṇakya however discovered them.[50] This device of making oneself invisible and then taking away the food is called *cūrṇayoga*, and comes under *utpādanadoṣa* in the *Uttarādhyayanasūtra* (Lect. 24) where the faults of monks' seeking food have been enumerated, some of which are *vidyāpiṇḍa* (conjuring a god to get alms), *yogapiṇḍa* (teaching people spells, tricks etc.), *mūlakarman* (averting evils by roots, charms etc.), and *mantradoṣa*. In *Kupra* Abhayasiṃha obtains from his mother, who has become a Vyaṃtarī, a spell that renders one invisible (*paḍhiyasiddham adissīkaraṇamantaṃ*) and escapes the city-guard by being invisible[51] Mention is also made of it in *Supā*,[52] *Sūyagadaṃ*.[53] (antaddhāniṃ), etc. There is an abundant reference to it in Sanskrit literature. Celestial nymphs used the *tiraskariṇi vidyā*[54] when on earth. A magic ring renders a hero invisible to all but his beloved.[55] In *Mṛcchakaṭika* a magical ointment named *yogarocanā* renders one

48. *Ibid*, p. 423, ... paraditṭhimohanī nāma coraguliyā; tie udayasamjoeṇa aṇjiehim nayaṇehiṃ sahassaloyaṇo devāhivo na pecchai ...

49. Tawney. Kathākośa, p. 103.

50. *Pari.*—pp. 60, 61. Canto VIII Sls. 377-413, *adṛśyatva*-kārakaṃ divya-mañjanaṃ.

51. Kupra. pp. 37–39.

52. *Supā*, pp. 454—55.

53. *Sūya* 2. 2. 15.

54. *Vikramorvasī* by G. Vaidya, pp. 24, 28, 30, 52, 53, Urvasī and Śakuntalā become invisible. See S. B. E., Vol. XLIV, p. 70.

55. *Avimāraka*, Act, IV; also *Śakuntalā*, Act VI.

invisible and invulnerable.[56] In Pali literature there is reference to this *vidyā*.[57]

In *Pārśvanātha* (pp 57, 58) an atmospheric crystal (*āgāsaphalihā, ākāsaphaṭikā, khaphaṭikā*) is reputed to have the virtue of making a thing invisible, also it could make anything into which it was fixed float in the air. When it was fixed to a throne by a king, it made it float in the air.

There are stories of inanimate statues or paintings on the walls suddenly becoming alive, doing something special and relapsing into *status quo*. When Bhīma ascended the seventh story of a palace, he was greeted by sweet sounds emitted by Śāla-wood statues which descended from their pedestals and conducted him to a golden throne.[58] In *Samarā* (p. 500) merchant Sāgara witnessed something strange. His wife had lost her necklace sometime ago; that day when he was in his picture-gallery (*citraśālā*, properly a room with frescoes on the wall), he saw a peacock stepping bodily out of the painting; after depositing the lost necklace the bird returned to its original place and form in the picture. When Nanda's dependent chiefs refused to obey him, he asked the armed guard to put the assembled chiefs to death, but they disobeyed him. Now there were two sentinels painted *al fresco* on the wall (*pratīhārau lepyamayau*). Into these pictures a goddess moved by Nanda's merits puts life, upon which the sentinels stepping out of the wall immediately put to death the disloyal chiefs.[59] Similarly in the *Kathāsaritsāgara* (130 ff.) Vikramāditya with a vetāla enters a temple and beholds there a dance before a *liṅga*, executed by singers and

56. *Mrccha*. p. 74.

Anayā hi samālabdhaṃ na māṃ drakṣyanti rakṣinah |
astraṃ ca patitaṃ gātre rūjam notpādayiṣyanti ||

57. Cf. *Milindapañho* (ed. V. Trenckner, 1880) p. 199. Idha pana Mahārāja puriso *dibbaṃ antardhānaṃ* mūlam hatthe kareyya yāva tam mūlam tassa hatthagataṃ tāva na aññō koci pakatimanusso tam purisaṃ passati...

58. *Pārśvanātha*, p. 52.

59. *Pari*. p. 46; Canto VI Sls. 244—52.

players. At the end of the spectacle the dancing nymphs disappear in the figures carved on the pillars of the temple, in the same way the singers and players go into the figures of men, painted on the walls[60].

By means of magic, charm, medicinal (and magic) powders and the art of maddening (lit. making the heart leap), making himself invisible, softening, bringing others under his influence and dependence the eunuch Piyaseṇa enjoyed many pleasures.[61] In *Nāyā* (pp. 186, 187), Poṭṭilā, who has lost the love of her husband is anxious to regain his affection, for which she tried some remedies, viz., *cuṇṇajoe vā mantajoe vā kammaṇajoye vā hiyauḍḍāvaṇe vā kāyauḍḍāvaṇe vā abhiogie vā vasikaraṇe vā kouakamme vā bhūikamme vā mūle kande challī vallī siliyā vā guliyā vā osahe vā bhesajje vā* ..

Cuṇṇa is a mixture of powders for magically effecting *vaśīkaraṇa* (submission) etc. *Joga* is a powder employed to effect *vaśīkaraṇa* or making one mad.[62] When Ṛpudāraṇa is struck with a fist containing magical dust by Yogeśvara, the *tantravādi*, he became infatuated and his nature undwent a change.[63] *Kammaṇa* is the act of infatuating a person, overpowering one's senses, making one subject to one's will, distracting one etc, also poisonous charm or drug.[64] *Uḍḍāvaṇa* is attraction (of the mind and the body). *Ābhiyogiya* is *vaśikaraṇa*.[65] *Siliyā* means herbs (*kirātatiktaprabhṛtikā, chireta*, commy. *Vivāga*, 23). *Guliyā* means pills.

---

60. *Pārśva*, p. 194.

61. *Vivāgasuyaṃ* (P. L. Vaidya's ed. 1935) para 54.....bahūhi ya vijjāpayogehi ya mantacuṇṇehi ya hiyauḍḍāvaṇāhi ya nihṇavaṇehi ya paṇhavanehi ya vasikaraṇehi ya ābhiyogehi ya abhiyogittā... (see notes and glossary).

62. *Surasundarī-caria*, 8, 201 ; *joga maimohakarā* sise khitto *imāna suttāna*. For a monk to obtain food (*jogapiṇḍa*) from a lay man by performing for him the service of *vasīkaraṇa* etc., has been forbidden in *Uttarādhyayana* (*see ante*); and in *Paṃcāśakaprakaraṇa*, 13, and *Niśithacūrṇi*, 13.

63. *Upamiti* p. 720 prahato' ham mukhe yoga cūrṇamuṣṭyā ..... tasminneva kṣaṇe saṃjāto me prakṛtiviparyaya...mohitaśca tena yogaśaktyā.

64. *Samarā*. p. 108. sajjaghāyanam se kammaṇajogam pauañjami ; also p. 202 ; *Kupra*. p. 43.

65. *Paṃcāśaprakaraṇa*.

Merchant Yaśodāsa, husband of Bandhusundarī, slighted her as she had no children, and fell in love with another woman, named Madirāvatī. When a *joga* (charm) was administered to him his love for Madirāvatī ceased and for Bandhusundarī returned.[66] In the commentary of Śīlaṅka to *Sūyagadaṅga* (2·2) a story is told of a Rājagṛha friar who acquired power from magic science, charm and herbs (*vidyāmantrauṣadhilabdhasāmarthya*). With the help of this he used to carry off beautiful women. The king at last killed him, and restored them to their relations. But one of them being still under the influence of the charm loved him and did not want to return to her own husband whereupon she was made to drink with milk the pounded bones of the friar. Thus the spell was dissolved, and her strange passion for him died away.[67] In the *Āvaśyakacūrṇi* (Part I, p. 279) the following story is related :— At Sāvātthi lived a householder named Piudatta, his wife Siribhaddā used to give birth to still-born children. She was instructed by a soothsayer named Sivadatta to carefully wash her foetus, chop it very finely, and cook it with milk in a room with closed doors so that no one might know, and give the thing to an austere monk, in this way she would bear living sons unfailingly.[68] Gosāla in his round got this alms.

In *Upamiti*. King Karmapariṇāma gives some magical pills to Bhavitavayatā (p. 185, *sarvārthakārinya ekabhavavedyasaṃjñāh pradhānaguḍikāh*), and Vaiśvānara gives some magical pills called 'cruel thoughts' to Nandivardhana (p. 204, *Krūracittābhidhānāni vaṭakāni... kurvanti dirghataram cāyuṣkaṃ*). Goddess Vairoṭyā gave Jayadratha two pills (*guṭike*) which gave him the power of flying through the air and assuming any form he liked.[69]

66. *Samarā*. pp. 676—78

67. Tatra caikā sīmantinī atyantamauṣadhibhirbhāvitā necchatyātmīyamapi bhartāraṃ, tatastadvidhirabhihita ṇyathā ' syāh parivrāṭsakānyasthīni dugdhena saha saṃghṛṣya yadi dīyante tadeyam tadāgraham muñcati...

68. "Jo sutavassī tassa tam gabbham aṭīva pakkhāliūṇa sanhakhaṇḍāṇi kāūṇa pāyaseṇa saha paittā deha...evam thirāṇi puttabhaṃḍāni bhavessāti...

69. *Kupra*, pp. 361—62.

Herbs had magic virtue. There grows in the Himalayas a wonderful herb which cures call wounds. A ring of this herb (*osahivalayakhaṇḍaṃ*) was given by a Vidyādhara named Hemakuṇḍala to Dharaṇa. With this the latter cured a Śabara Chief who had killed a lion, but whose skull had been fractured in the contest On another occasion his caravan having been looted by a gang of Śabaras he escaped with his wife Lakṣmī and wandered about in the forest. She was exhausted with hunger and thirst and could not move. Unable to find water Dharaṇa drew blood from his arm, and cut a piece of flesh from his thigh and sustained his wife in this way. He healed the wounds with this miraculous herb.[70] In *Supā* a *ceḍaya god* is pleased with a prince, cures wounds by *saṃrohiṇī mantra* and gives him *gāruḍamantra.* In the *Supriyāvadāna* of *Divyāvadāna* mention is made of various kinds of potent *oṣadhi*, such as *Śaṅkhanābhi, mahāmakarī, amogha, sammohanī, sañjīvanī* etc.

The goddess of the wishing tree gave Sena a miraculous stone which cured all diseases. With this he cured king Samaraketu when all physicians failed.[71] A god gave Asokadatta a miraculous stone which would fulfil only one wish of its possessor. With its help he procured some mangoes out of season and satisfied the craving of Bandhumatī who had a longing (*dohala*) for them [72] Bhadda, the son of a merchant, gets from goddess Aśokā, the *cintāmaṇi* gem, which gives 500 *dinaras* daily.[73] It was the wishing jewel.[74] There is a reference to it in *Samarā* (p. 781). In *Upamiti* Ratnacuḍā gave Vimala a magic gem which equalled the cintāmaṇī in virtue.[75] In Pāli literature also we read of *maṇika-vijjā* and *cintāmaṇi* gem [76]. The *jalakanta* gem when thrown into the water

70. *Samara.* pp. 415—17, 423—27, mahosahim...(acinto himanimantosahina pabhāvo...osahipahāvassa pubbarūvao...

71. *Samarā.* pp. 564—68 ; Sabbarogavisanigghāyaṇasamattham āroggomaṇirayaṇam.

72. *Samarā* p. 478 Sā hi ihalokapadivadaham egadivase egappayoyanam .

73. *Kupra,* p. 88.

74. *Kummāputta. Sls.* 72 ff; cintāmaṇī maṇiṇam siromaṇī cintitatthakaro cintārayaṇam, also *Kupra*...p, 419.

75. *Upamiti.* p. 749. 76. *Jataka,* IV, 214, III, 504,

made it appear as dry ground.[77] In the *Divyāvadāna* (p. 119) mention is made of a gem which can disperse fears from a king, thief, fire, water, lion, tiger, *yakṣa, rakṣasa, preta, piśāca, kumbhāṇḍa, pūtanā, kaṭapūtana,* want of rain, famine, etc. The Ekāvalī in Bāṇa's *Harṣacarita* (Bk. VIII) had the magical power of protecting Harṣa against being poisoned and giving him success in undertaking.

From the time of the Atharvaveda, serpentlore (*sarpa-vidyā*), demonology (*devajanavidyā*), magic (*māyā*, or *asuravidyā*) etc seems to have been known, for in the *Śatapatha* (*kāṇḍa* 13, *adhyāya* 4, *Brāhmaṇa* 3) we find: "The *devajanavidyā* is the *Veda*; this it is; magic is the Veda, this it is" Disease was regarded as an evil spirit, hence a physician seems to have learnt *bhūyavijjā* or the science of warding off evil spirits, which is included in the *aṭṭhaṅgāuvveda* read by *vejje* Dhannantarī in *Vivāgasūyaṃ* (para 134). Of course there were special spirit doctors, or medicine-men. In *Milinda* p 23, we come across a *bhutavejja*, and in *Sumaṅgalavilāsinī* (p. 67) *bhūtavijjā*.

The doctor (*vejja-vijja*) had to learn *jaṅgola* or *jaṅgolī* (*Ṭhāṇaṅga* 8) *i.e.* the science of cure for poisons (*Vivāga* 1—7, Vaidya's ed. 134). It was also called *jaṅguli vidyā Tīrthakalpa*), and the professor of the *vidyā* was called *jaṅgulīya* (*Paumacaria*, 105, 57; Skt. *jāṅguli, jāṅgulika*, a poisoncharmer, a snake-doctor). In Sanskrit literature we find mention of the snake-goddess Jāgulī devī. While inspecting the records preserved in the Record room of the Collector of Cuttack I came across grants of land made to the *mārfatdars* (*Sevaits*) of some *grāmadevatīs* of Orissa, among whom are mentioned Jāgulāi Ṭhākurānī, Buḍī Jāgulāi (*mārfatdar* Videhī, Pānigrāhi. Perg. Jajpur, vil. Sundarpur etc). She is probably the modern representative of Jāṅgulī mentioned in the *Sādhanamālā* (G. O. S., XLI, q. v.) In *Sumaṅgalavilāsinī* (p. 67) we get *visavijjā*.

A magician (*siddhaputto*) restores life to Sāgaradatta to whom his mother administered strong poison.[78] In *Kathākośa* there is a story of poisoning being cured by the drink of a solution of gold,[79] and of a charm which destroyed the effects of poison.[80]

77. *Kupra.* p. 209; *Kummāputtacaria*, sl. 70, where other gems such as *sūrakanta, masāragalla* etc. are mentioned.

78. *Samarā.* p. 153, 79. *Kathā* pp. 118—19, 80. *Ibid;* p. 162.

Maheśvaradatta, a Kāpālika monk, gave a most powerful snakecharm to the shipwrecked merchant Dhana in gratitude for the help rendered to him previous to his conversion. With this Dhana cured the king's son, Sumaṅgala, who had been stung by a snake and could not be cured by any serpent doctors (*gāruḍio*) with their *mantas* or medicine.[81] In *Supā* (pp. 136—37) an elephant seeing the water of a lake blue with poison makes it poisonless by throwing in it the branch of a tree. Mention is made of an herb which can bring to life a person even if stung by Death itself (*kāladaṃsiāvi manne jīvaveuṃ samattho'ti*). A beggar (*kappaḍiya*) cures a boy who was bitten by a snake (p. 138) and was being conducted to the crematorium. Similarly a prince knows by the peculiar sound of a trumpet that a girl who was bitten by snake (and was alive) was going to be burnt. He revives her by *gāruḍamantra*.[82] In *Kupra* Prince Dīpaśikha likewise revives Līlāvatī.[83] There are many references to *sarpavidyā*, *gāḍurika* and *ahi-tuṇḍika* or *ahiguṇḍika* in Buddhistic literature (Pāli and Sanskrit).[84] An instance of sympathetic magic as a cure for snakebite is given in *Mālavikāgnimitra* (Act IV p. 104, *udakumbhavidhāna*). Bloomfield cites some references to poison being cured by charms, prayers, charmed water—*Kathākośai* p. 102, *Daśa* i p. 11, 149 etc. Jewel from serpents' head cures poison in *Caṃpakaśreṣṭhikathānakaṃ* Hertel, *ZDMG*, LXV pp. 436, note 1 451. Ralston, *Tibetan Tales*, pp. 58 ff. Benfey, *Das Pañca.* vol. , pp. 518, 534, Steel and Temple, *Wide-awake Stories* pp. 417 ff.[85] The science of poison was well studied; and there was even a treatise called *viṣakanyā-lakṣaṇa* to find out whether a girl was a *viṣakanyā*. In Kauṭilya's *Arthaśāstra* the subject has been well treated.

Continued.

---

81. *Samarā*. pp. 215—17.

82. *Supa*. p. 217—19.

83. *Kupra*. p. 140; for *gāruḍamantra*, see also pp. 244, 248, 250. *Upadeśapadaṭīkā*, 986; *Thāṇaṅga*, 9. Garuḍa was the enemy of snakes.

84. *Jātakas*; *Sumaṅgalavilāsinī* p. 67, ahivijjāti sappadaṭṭhatikicchanavijjā ceva sappavhāyana vijjā ca., *Divyāvadāna*.

85. *Pārśvanātha* pp. 187, 198.

A CONTEMPORARY MANUSCRIPT OF THE HASTASAÑJĪVANA-BHĀṢYA OF MEGHAVIJAYAGAṆI, BELONGING TO RAGHUNĀTHA MAHĀDEVA GHĀṬE— BETWEEN A. D. 1680 AND 1700.

By

P. K Gode, M.A.

In a recent paper contributed by me to the *Bhāratīya Vidyā*,[1] Bombay, I tried to establish that Meghavijayagaṇi, the author of numerous works in Sanskrit and a few works in Gujarāti, composed his commentary on the *Hastasañjīvana* either in A D. 1680-81 or between A. D 1680 and 1705. I further suggested that this view of mine was in harmony with the known dates of composition of the works of this Jaina author *viz.*, A, D. 1660, 1665, 1671, 1691, 1701, 1702 and 1704. Since my paper was sent to the above journal for publication I have come across a rare MS of the *Hastasañjīvana*, which appears to be identical with the *Hastasañjīvana* together with *Bhāṣya* the authorship of which is ascribed to Meghavijayagaṇi. This MS though incomplete is very important as it is a contemporary copy of the *Hastasañjīvana* with *Bhāṣya*, composed by Meghavijaya and hence supports my chronology for it viz., *A.D. 1680-81* or "*between A.D. 1680 and 1705.*"

The MS [2] of the *Hastasañjīvana* referred to above belongs to the Sanskrit Pāṭhashālā, Rajapur (Ratnagīri District of the Bombay Presidency). It was presented to this Pāṭhshālā in 1931 by the late Narayan Sitaram Ghāṭe [3] of the village Harḍī near Rajapur along

1. Vide Vol. III (1942.)

2. This MS was made available to me by my friend Pandit Raghunath Shastri Patankar of Rajapur.

3. He was in his 90th year in 1931 and died 5 years later.

with many valuable MSS from his family collection. The description of the MS is as follows :—

Size :—10 inches by 4½ inches.

Material :—Country paper, very old, though well preserved.

Extent:—14 folios ; 14 lines to a page ; about 42 letters to a line

On folio *1a* we find the following endorsement. "श्रीहस्तसंजीवनप्रारंभ अथ हस्तसंजीवनपुस्तकं घांटोपनामक-कौशिकगोत्रोद्भव-यशस्करभट्टस्य श्रीरस्तु शिवमस्तु etc. "

A similar endorsement [1] is found at the close of the MS on folio 14*a*.

The MS begins as follows :—

"श्रीगणपतये नमः ॥ श्रीभद्रकाल्यै नमः ॥

श्रीशंखेश्वरपार्श्वं प्रणम्य ध्यायंस्तमेव जिनवृषभं ।
हस्तप्रशस्तलक्षणपरीक्षणे दक्षतां वक्ष्ये ॥१॥
श्रीनाभेयः प्रभुर्जीयात् सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।
येन लाक्षणिकी विद्या निर्दिष्टा भुवनश्रियै ॥२॥
श्रीवर्द्धमानो जयतु सर्वज्ञानशिरोमणिः ।
पंचहस्तोत्तरो वीरः सिद्धार्थनृपनंदनः ॥३॥
अंगविद्या निमित्तानामष्टानामपि गीयते ।
मुख्या शुभाशुभज्ञाने नारदादिनिवेदिता ॥४॥

यदुक्तं etc. "

Folio 2a—"इतिश्रीहस्तसंजीवने शास्त्रपीठिका

—verses 1 to 19

Folio 3a—"इति हस्तसंजीवने सिद्धज्ञाने पुण्यसाधने ध्यानविधानं "

—verses 1 to 21

Folio 3b – "इति हस्तसंजीवने सिद्धज्ञाने नामानि "

—verses 1 to 15

Folio 4a—" इति हस्तसंजीवने सिद्धज्ञाने हस्तविलोकनविधिः "

—verses 1 to 17

---

1. This endorsement reads as follows :—
" श्रीमत्कौशिकमहर्षेः वंशकुलपरंपरागत र (?) घंटाभिधान-यशस्करभट्ट-सर्वज्ञसंपन्नसर्वंकुसु (?) सुरवंद्यश्रीमद्यशस्करभट्टस्येदं पुस्तकं हस्तसंजीवनाख्यमित्यास्तां विस्तरः प्रकृतमनुसरामः ।"

Folio 4b—" इति हस्तसंजीवने तिथिदर्शनं "

—verses 1 to 18

Folio 8b—" इति ह० अंगुलीस्वरूपचक्रं "

—verses 1 to 83

Folio 13—ends—

" एतूरेखांगुष्टरेखा ..... ङ्गेशे तद्भव: ॥८७॥

The MS breaks off here and is followed by the endorsement regarding its ownership which we have quoted already in this paper. *Verse* 87 " पितृरेखांगुष्टरेख etc.") quoted above corresponds to verse 87 of the 3rd *adhyāya* (रेखाविमर्शनं) of the हस्तसंजीवन of the B. O. R. Institute MS of the work acquired in 1942. The rest of the work as represented by folios 14 to 20 of the B. O. R I. MS is wanting in the Rajapur MS before me and hence it is incomplete as the work consists of 4 *adhyāyas*. Perhaps the original from which the Rajapur copy was prepared was incomplete. The B. O. R. I. copy which is complete and which gives us some verses at the close about Meghavijaya, Vijayaprabha and Kṛpāvijaya has the same text (verses and prose भाष्य) as is found in the incomplete Rajapur MS.

The *Bhāṣya* on folio 3 of the B O. R. I. MS mentions as an example *Saṁvat 1737, Śaka 1602 Pramoda Saṁvatsara* with other chronological details which give us the date *Friday 18th June 1680* [1] *Saṁvat 1737* is again mentioned on folios 8 [2] and 10 of the B O. R. I. MS. This mention of the year A.D. 1680 warrants an inference that the work *Hastasañjīvana—bhāṣya* of Meghavijaya was composed either in A.D. 1680 or between A. D 1680 and 1705, which is the last recorded date of one of Meghavijaya's works.

I shall now state my evidence for regarding the Rajapur MS of the *Hastasañjīvana* as a contemporary copy. This evidence is as follows :—

(1) यशस्कर घांटे of कौशिक गौत्र the owner of the हस्तसंजीवन MS flourished between A.D. 1650 and 1700 and was a contemporary of मेघविजयगणि whose dates range between A D. 1660 and 1704.

---

1. Folio 4*a* of Rajapur MS Contains the extract giving these Chronological details.

2. Vide folio 9*a* of the Rajapur MS,

(2) यशस्कर was also called येसंभट्ट or रघुनाथभट्ट. His genealogy as reconstructed by me is as follows .—

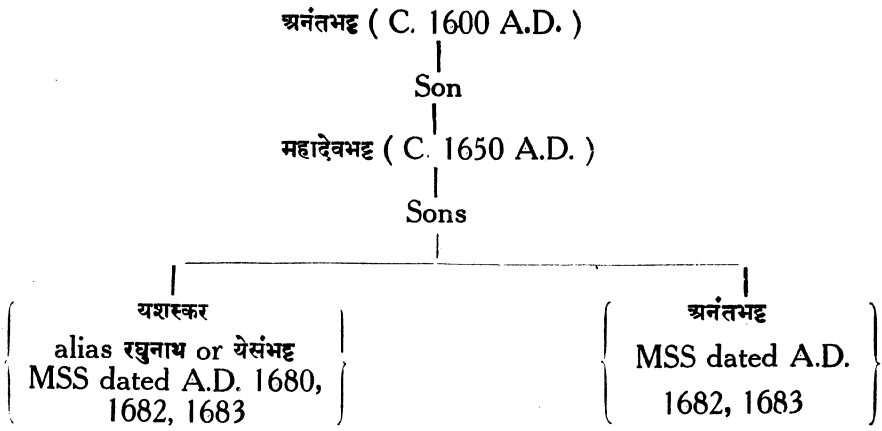

(3) यशस्कर घांट or घांटे composed some works on *dharmaśāstra* viz, श्राद्धनिर्णयदीपिका निर्णयरत्नावलि, सोमेश्वरदशक etc. In these works he mentions निर्णयसिंधुकार *i.e.*, the author of the निर्णयसिंधु of Kamalākara which was composed in A.D. 1612.

(4) यशस्कर performed a जप in A.D 1680 and kept a record of it in his own handwriting. This document records his name and the year A.D. 1680 when the जप was performed.

(5) The Rajapur MS of the हस्तसंजीवन must have been copied presumably between A.D. 1680 and say 1700 *i.e.*, during the life-time of यशस्करभट्ट or रघुनाथ महादेव घांटे of the village Hardi near Rajapur, where his descendants are still living. The fact that this MS belonged to यशस्कर (*alias* रघुनाथ) महादेव घांटे is clear from the endorsements at the beginning and end of the Rajapur MS of the हस्तसंजीवन. Similar endorsements are found on other MSS belonging to यशस्कर भट्ट and his brother अनंतभट्ट both of whom flourished between A.D. 1650 and 1700. These brothers were definitely living between A.D. 1680 and 1683 as proved by the record of these dates on their MSS. In my paper[1] on रघुनाथ महादेव घांटे (between A.D. 1650 and 1700) I have recorded

1. This paper has been sent for publication to the Editor of the *Journal of the Sarasvati Mahal Library. Tanjore.*

sufficient contemporary documentary evidence regarding the chronology of the works of this author and hence it need not be repeated here.

That an author who flourished between A.D. 1650 and 1700 should own a copy of the हस्तसंजीवनभाष्य of मेघविजय proves beyond challenge the contemporary character of the copy and hence supports my limits for the date of composition of this work *viz.*, between A.D 1680 and 1700" Most probably the work was composed in the year A.D. 1680 which is mentioned twice or thrice in the body of the work.

The Jaina Chronology.

By Kamta Prasad Jain, LL. D., M R. A. S.

(*Continued from Vol. VII, No. II, page 80.*)

EVENTS OF THE ANCIENT HISTORICAL PERIOD

No.	Period & Date.	Events.
63	573 or 522 B. C.	Mankhali Gośāla, who formerly belonged to the lineage of Nirgrantha disciples of Tīrthankara Pārśva, sets up as a teacher of the Ajîvikas. His doctrines although differing on main points, were taken from the Jaina *Pûrvas.* [Ref. K. P. Jain, *Saṃ-Jain Itihāsa*, vol. II, pt. I, pp. 62—73.]
64	561, 543 or 506 B. C.	Mañkhali Gośāla dies at Srāvastî. [*Ibid*].
65	554 B. C.	Koṇika Ajātaśatru having interned his father Śreṇika Bimbisāra, ascends to the throne of Magadha.
66	545, 527, 590, 580, 467 B C.	Tîrthankara Mahāvīra Vardhamāna reaches *P*āvā, after preaching in the whole of India and its border countries and attains Nirvāṇa from that place on Kārtika Kṛṣaṇā Amāvasyā at the age of about 73. Three years and eight and half months after this great event *Panchama Kāla* commenced. [Ref. SJI, II, i, 116].

No.	Period & Date.	Events.
67	Ditto.	Indrabhūti Gautama attains Kevalajñāna and becomes the leader of the Jaina Saṁgha
68	Ditto.	Pālaka succeeds to the throne of Ujjain and reigns for 60 years.
69	543 B. C.	Koṇika Ajātśatru having killed his father and usurping the throne of Magadha, wages war against Vajjian republic and becomes a Jain.
70	543 or 506 B. C.	Jambu-Kumāra, son of Śrestin Arhadāsa or Ṛṣabhadatta and Jinamati Dhārini of Kāsyapagotra born at Rājagraha.
71	Ditto. & 480 B. C.	Śākya Muni Gautama Buddha dies at Kusinārā.
72	533 B. C. *533, 515* or *450 B.C.*;	Indrabhūti Gautama attains Nirvāṇa at Rājagraha at the age of 92, twelve years after the Nirvāṇa of Mahāvīra. Sudharmana-Svāmî attains Kevalajñāna and leadership of the Jain Order. [SJI. II, i, 126—127].
73	*Ditto.*	Sudharmanaswām preached and toured in the countries of Pundravardhana and Udradeśa. Yama was the king of Udras, who became an ascetic with his five hundred sons at the feet of Sudharman. His son Gardabha succeeded him and adopted the vows of a Jain layman. *[Ibid.]*

No.	Period & Date.	Events.
74	521 or 503 B. C.	Sudharman gains Nirvāṇa at the age of 100 and Jambū attaining Kavalajñāna, succeeds him as the head of the Order. [*Ibid.*].
75	483 B. C.	Jambū, the last Kevalin attains Nirvāṇa at Rājagraha. He with his Vidyuta and other five hundred disciples performed austerities ere this at Mathura and attained *Samādhi* having been attacked by some alien figure. In their sacred memory 500 stupas were erected at that place. [*Ibid.* 178]
76	Ditto.	Nandi or Viṣṇu, the first Śrutakevalin succeeds Jambû as head of the Sangha. [Ref. Dhavalā, INTRO. p. 23.]
77	463 B. C.	Nandimitra, second of the Śrutakevalins becomes the leader of the Saṁgha. [*Ibid.*]
78	443 B. C.	Śrutakevalin Aparājita succeeds Nandimitra as head of the Saṁgha.
79	433 or 396 B. C.	Bhadrabāhu, the last Śrutakevalin born at Kotipura in Pundravardhana, his parents being Somaśarma and Somaśrî. [SJI, II, i, 205]
80	423 B. C.	Śrutakevalin Govardhana succeeds Aparājit most probably at this time.
81	411 B. C.	Sthûlabhadra born āt Pāṭaliputra of Sakatala, the *mantrin* of the 9th Nanda King.

No.	Period & Date.	Events.
82	400 B. C. or later	Tirumalai caves (district Arcot) South India, sacred to Jainas, contain foot-prints (1½ feet in length), said to have been built to commemorate the presence of those Jaina munis, who came to this place and remained there for a time during the 4th century B.C., when Bhadrabāhu led a great Jaina migration to South India. [Ref Sitalprasad, MJS., p. 74].
83	403 B. C.	Bhadrabāhu succeeds Govardhana as last Śrutakevalin and head of the Saṃgha.
84	383 or 365 B. C.	Bhadrabahu abdicates his Āchāryaship and Viśākḥāchārya succeeds him.
85	374 B. C.	The pre-Asokan Brahmî Inscription of Barli records a dedication of a certain item to Lord Mahâvira by lady Sāli Mālini at Mādhyamikā Ref JBORS., Vol. XVI pp 67–68.
86	327 B. C.	Alexander, the Great, attacks India and he is joined by Omphis, King of Taxilla, and other chiefs who had tendered their submission. At Taxilla, A. sees the Digambara Munis, called the Gymnosophists, and gets impressed by their wisdom and learning. From Taxilla, A despatches one part of his army to the river Indus by way of the Khaibar Pass while, with the other, he himself pursues a more northerly and circiutous route, subduing on his way the

No.	Period & Date.	Events.
		Nysains, Aspasians, Assakerians and Goraxaus and capturing the strong cities of Massaga and Penkelastis and the celebrated Rock Aornos. [SJI., II, i, 183—5]
87	326—322 B. C.	Bhadrabāhu becomes instructor of the Mauryan emperor Chandragupta and leads a Jain migration to South India. The Mauryan Emperor adopts vows of a Jain Śramaṇa and accompanies the Jain monk The Samgha of Bhadrabāhu visits Girnāra and other sacred places of west and south India and reaches on Katvapra hillock near Śravaṇabelagola in Mysore State, where Bhadrabāhu observes *Sallekhana* and passes to celestial world. Chandragupta also follows his preceptor. [SJI., II, i, 203—243.]
88	321 B. C. (371—321 B. C.	After the Nirvāṇa of Mahāvīra, the Jaina Saṁgha is said to have numbered over five hundred thousand members and subsequently the nine kings of the Nanda dynasty of Magadha, (with their ministers), were patrons of the Jaina Order. The founder of the Mauryan dynasty Chandragupta, as well as his Brahmin minister Chāṇakya, were also enclined towards Mahāvīra's doctrines and even Aśoka is said to have been led towards Buddhism by a previous study of Jain teaching." [Refs. HARI. p. 59 ; EHI. p. 33.]

No.	Period & Date.	Events.
89	324—21 B. C.	Alexander on his way stops at Susa (Persia), where Kalanus, the gymnosophist (Kalyāṇa Digamber Muni), who had accompanied him from Taxilla, burns himself after breathing his last and performing *Sallekhana* on a funeral pile. [SJI. II, i, 183—85.]
90	"	The ancient Nirgrantha (Jaina) Saṃgha suffered at the hands of its ascetic members—some of them put on a cloth to hide their shame and came to be known as 'the *Ardhaphālakas*'; who are proved to be the forerunners of the latter Śvetāmbaras. [Ref. 'A Volume of studies in Indology, (Poona), pp. 228—237.]

To be contd.

NĀRĀYANAS, PRATINĀRĀYANAS AND BALABHADRAS.

BY

(Dr. Harisatya Bhattacharya M.A., B.L., LL. D.)

The same supreme veneration for a perfect human being which characterises the Jaina religion, is also manifest in its account of the *Narāyaña* and the *Pratinarāyaña*. The orthodox literature of the Brāhmanic school describe Nārāyaña as the supreme Being. The Brahma-vaivarta Purāña says:—"The wise know that by the term, Nāra is understood salvation, in which the emancipated Being becomes of the similar form with the Supreme Lord. That God is Nārāyaña who is the way to it. Again, *Nāra* may mean a sinner and *Ayaña*, his way. The god Nārāyaña is so called because he is the way (to salvation for the sinner). *Nāra* may also mean the blessed deliverance and *Ayaña* knowledge. He is the Nārāyaña, from whom come the two." The Vishñu-Purāña, again holds: "By *Nāra* is meant *Ap* (water); it may also mean Sons of Man. Nārāyaña is so called because he dwelt in them." It is urged that "Nara is the 25th principle over and above the Prakriti. *Nāra* are the objects which belong to Nara. Narāyaña is so called because He is the abode of all these." It is thus abundantly clear that Nārāyaña, according tō the Vēdic literature is the super-sensuous Supreme God or Principle, governing the Phenomēna of the world.

According to the Jainas, however, Nārāyaña is a mighty human king who rules over three parts of the earth. He dies while ruling over his kingdom *i.e.*, without getting himself initiated into the order of the monks. Upon his death, he goes to hell and on the termination of his infernal life, he is reborn into this world and attains salvation. Nine such Nārāyañas are mentioned in the Jaina Purāñas, af .whom, the account of Lakshmaña and Krishña will be of interest to students of comparative religion, as they are glorified in the Vēdic Purañas also.

Nārāyaña, according to Jainism is thus a human being and according to the Brāhmiñic school, the supreme divine principle. He is again the deliverer of the sinning mankind, according to the Vēdic School. The words, *Nāra* and *Nārayaña*, may both derivatively mean "Son of Man." If we combine the views of the Jaina and the Brāhmiñic schools, we may arrive at a curious idea of the Nārāyaña being identified with the Jesus of the Christians. 1. The sacred scripture of the Christians call Jesus " Son of Man." According to the Jainas, Nārāyaña is a man. The word, Nārāyaña may also derivatively have the exact significance, " Son of Man." Indeed, the Brāhmiñic Purañas say that, " in some Manvantara, Nārāyaña became the son of *Nara*, a human sage." 2 According to the Christians, Jesus is nevertheless divine; this is also the Brāhmiñic conception of the Nārāyaña. 3. Lastly, Jesus the divine, the Son of Man, is the deliverer of the sinners. What we have quoted from the Brahma-vaivarta Purāña, goes also to show that derivatively, the word, Nārāyaña means exactly the same thing He, the Supreme Beings according to the Vēdic School, becomes " flesh and blood," lives among men and shows the way to or effect their liberation. The fundamental theory of the Christian religion, its Son-of-Man dogma *i.e.*, its doctrine of God appearing as Man and working for the deliverance of sinners and sufferers, may thus be said to have been implied in the Nārāyaña doctrine in ancient India

Prati-Nārāyañas, again, are persons who are antogonists of Nārāyañas. The Prati-Nārāyañas are pre-destined to be killed by the Chakra of the Nārāyañas, who, on their death, rule over the three parts of the earth, owned by the Prati-Nārāyañas. Prati-Nārāyañas,on their death, go to hells and on the termination of their lives there, are born and re-born in this world, till at last they attain salvation. Nine Prati-Narāyāñas are described in the Jaina Purāñas. In the list of the Jaina Prati-Narāyañas, we find the names of some familiar demons, the accoūnt of whose deeds or misdeeds fill the pages of the sacred books of the Brahmañas. We come across, for instance, the names of Aswa-griva and Madhu-Kaitabha, who were killed by Vishñu-nārāyaña according to the Vēdic

Purāñas, of Tāraka who was killed by the mighty Kartikēya, the general of the gods and of Nisumbha who was killed by the goddess Chandikā. We find also the mention of Bali who is said to have been humbled by Vishñu in his incarnation as the Vāmana or the man of short stature. But although it is remarkable that both the Vēdic and the Jaina sacred literature agree in describing the above mentioned mythic heroes as evildoers, we are surprised to find the name of Prahlada mentioned in the list of the Jaina Prati-Nārayañas. Here the Vēdic and the Jaina legends seem definitely and openly to be at the parting of ways. For, Prahlāda of Vēdic Purāñas is the ideal servant of Nārāyaña,—all-submissive and prayerful—whereas in the Jaina Purānās, he is a Prati-Nārāyaña or the enemy of the Nārāyaña. More important, however, of the Jaina Prati-Nārāyañas are Rāvaña and Jarāsandha,—the accounts of whose misdeeds and consequent annihilations form so great a part of the Vēdic epics the Rāmāyaña and the Mahābhārata.

Balabhadras in the Jaina Purāñas are the elder step-brothers of the Nārāyañas and are said to be attached fast to them. Unlike the Nārāyañas, they enter the order of the Jaina monks, which they do on the death of the Narāyñas and upon their deaths they either attain salvation or at least go to the high heavens. Of the nine Balabhadras, glorified in the Jaina literature, Padma, otherwise known as Rāma-chandra and Bala-deva are the most important as they are notable persons in the Vēdic Epics also.

From the short account of the Nārāyañas, the Prati-Nārāyañas and tne Bala-bhadras which we have given above, one may guess that there are Jaina versions of the stories of the Rāmāyaña and the Mahābhārata. We shall presently give the barest outline of the Jaina accounts of Rāma or Rāvaña and Krishña or Jarāsandha. We may however, just make a passing reference to a point which is of some importance to a student of comparative mythology. The sacred books of the Vēdic school regard Rām-chandra as the Nārāyaña and Lakshamaña, as the incarnation of Ananta, whereas according to the Jainas, Lakshmaña is the Nārāyaña. The Vēdic

Purāṇas describe Krishṇa as the Nārāyaṇa and his older brother, Bala-dēva or Bala-bhadra, as the incarnation of Ananta. Thus, so far as the natures of Krishṇa and his brother are concerned, the two religious may be said to agree,——although stray passages may be met with in some of the Vēdic Purāṇas, stating that Bala-bhadra the step brother of Krisṇa is the incarnation of Nārāyaṇa. Jaya-dēva, for instance, in his celebrated Hymn to the ten Incarnations, invokes Bala-deva as the Kēśava (Nārāyaṇa). It would thus appear that the Jaina inversion of the order of the Nārāyaṇa and his brother in the case of Rāma and Lakshmaṇa is parallel to the similar inversion of the same order in the case of Krishṇa and Bala-deva, made by the some of the devotees of the orthodox Vēdic school.

I

The story of the Rāmāyaṇa, as stated in the Jaina Purāṇas is substantially similar to the account of Vālmikī. We are told that king Daśaratha had four sons, Rāma, Lakshmaṇa, Bharata and Satrughna, who were the most accomplished of the princes of the day. Rāma broke the mighty bow of Janaka and was given Sītā in marriage to him. Daśaratha wanted to make Rāma the king but was compelled by his promise, previously made to Kēkayi, to banish him and make Bharata king in his stead. Rāma went to the forest with Sitā and Lakshmaṇa. Sūrpanakhā (called Chundra-nakhā in the Jaina Purāṇas) became enamoured of the brothers but on her advances being slighted, there was the fight with Kharu-Dūshaṇa King Rāvaṇa of Lankā, who was the brother of Chandra-nakha came to the forest. The brother who was protecting Sītā was deceived and made to believe that his brother was in trouble. He run to his rescue leaving Śīta alone and Rāvaṇa stole her away in his air-chariot, called the Pushpaka. Rāvaṇa look Śīta to Lankā and put her under the Aśōka tree. He tried his best to induce Śītā to surrender her fair body to his lust but Śīta sternly refused. Rāvaṇa was angry but was prevented from forcibly violating her by a previous imprecation of a saint. Sugrīva, the king of Kishkindhā, was restored to his kingdom and to his wife by the brothers. For a time, Sugriva was too much engrossed in his enjoyments to think of any duty to the brothers. He was, however brought to his

senses by the firy Lakshmaña and then, according to his direction Hanumān went to Lanka. He met Śītā who gave him her head-jewel to be delivered to Rāma. Rāvaña ordered Hanumān to be captured. Rāvaña's men were defeated but at last Indrajit took him to Rāvaña, bound in Nāga-pāśa or Serpent-noose. He destroyed many fine buildings in Lanka and went back to Rāma to whom he delivered the pleasant news about Śītā. Bibhishaña, the brother of Rāvaña tried to dissuade him from his evil part whereupon Rāvaña was about to kill him. Bibhishaña joined Rāma with his army. In the terrible fight that ensued between Rāma and Rāvaña, the latter hurled Śakti upon Lakshmaña which made him unconscious. At last, Rāvaña was killed and Rāma made Bibhishaña king of Lankà The brothers with Śītā came back to Ajudhya. Rāma became the king and ruled his kingdom well and peacefully for many years. There was, however, the ugly rumour about Śītā in the kingdom on account of her stay in Ravañas city, whereupon Rāma thought it fit to banish Śītā to please his subjects. Sītā gave birth to two boys. The two princes were very powerful and defeated Rāma and Lakshmaña in a battle. It was represented to Rāma that Śītā was a chaste lady and should be taken back. But as fate would have it, Śītā could not be joined with Rāma. Lastly in both the versions, we find that Rāma routed Śītā to face the ordeal of fire. Śītā came out unscathed, her purity vindicated.

It is impossible to note here, all the points in which the Jaina version of the story of the Rāmāyaña differs from Valmiki's. Some of them only may be noticed here. First of all, the episode about Daśaratha and Janaka wandering from countries to countries *in cognite* may be referred to. It is said that king Rāvaña of Lankā was told by a wise astrologer that his downfall would be brought about by the son of Daśarātha and the daughter of Janaka. Rāvaña was naturally frightened whereupon his brother Bibhishaña cheered him up by promising that he would kill the two kings before they would beget any children. The sage, Nārada, came to learn this and he gave timely warnings to Dasaratha and Janaka.

To be continued.

Reviews.

Studies in Dravidian Philology No. I—A Grammar of the Oldest Kanarese Inscriptions—by Dr A. N. Narsimhia, M.A., L.T., Ph. D.
Published by the University of Mysore.
Price Rs. 2/12/-.

To quote the words of the learned author 'the thesis is an attempt to give a descriptive account of the grammar of the oldest Kanarese inscriptions from the linguistic material available in the inscriptions of the sixth and seventh centuries A.D.'

'It consists of three parts: 'The Grammar consists of short chapters on the history of certain consonants and consonant groups, substantives, adjectives, pronouns numerals, verbs, adverbs and conjunctions. An attempt is made to explain the forms, wherever possible, in the light of those of Tamil, Malayalam, Telugu and Tulu; and developments of some of the old Kanarese forms into the modern Kanarese are noted. The last chapter is devoted to remarks on the word-order."

Part II consists of the text of the inscriptions studied.

Part III gives an alphabetical index of all the words in the inscriptions studied, with etymological notes.

The learned author has brought his deep erudition to bear upon the difficult subject to the great advantage of those who might feel interested in it. The great value of this book, not only in throwing a flood of light on the precious Old Kanarese inscriptions but also dealing with them threadbare philologically, cannot be over-estimated. As already observed all the words have been grammatically discussed, their origin has been traced and the parallel words elsewhere have been indicated. How elaborately the vast subject the great author has dwelt upon may be gauged from the history of one single letter *L* from the 8th century to the 16th century. The words borrowed from Sanskrit and Prākrit have been shown.

In the second part of the book all the Inscriptions dealt with have been given in Roman in the alphabetical order. These are 66 in number.

The last part not only gives an alphabetical list of all the words occurring in the aforesaid inscriptions but also gives grammatical and other references alongside. In short, the very learned author has spared no pains in making the book exhaustive, useful and fully illustrative of the topic in hand.

A Report on the Working of the *State Museum, Padukkottai* for Fasli 1350, (1940-41.)

The report shows that the Museum, flourishing under the patronage of a great state, is a very useful institution and has to its credit manifold activities worthy of such a body. The facts and figures presented by the Cuator for the year under review make a delightful and inspiring reading. The museum could boast of visitors considerably over a lac and a quarter with an increase of nearly three hundred over the figure of the previous year.

A number of prehistoric exhibits, viz. a set of seventeen palaeoliths from the Kortalitor basin in the Chingleput district and five neoliths from the Bellary district were presented by the Superintendent Madras Museum in exchange for an assorted collection of this museum. Eleven small bronze idols, the most interesting being those of Naṭarāja, Śivakāmi a seated Devi and a dancing Ganeśa were discovered in a breach of a certain tank and were acquired. The most important and interesting addition to the bronze gallery is a copper idol of Nṛsimha of a very artistic workmanship

The collections of South Indian Musical instruments were rearranged and many of them were cleaned and repaired. A few additions were also made to these collections.

Four gold and six silver coins were added to the collection. These were presented by the Superintendent, Madras Museum.

Besides, two inscribed stone slabs were added to the Epigraphy section during the year under report.

Many of the exhibits in the mineral cabinet were identified and some more were added.

The botanical and the Zoological section have their own exhibits.

A number of books were added to the museum library in the year under report.

The Museum authorities have to their credit some useful excavations that have brought to light a number of valuable finds of great importance and the conservation of others. The following are chief of them :—

1. Excavation of the Aivarkovil at Kedambular.
2. Excavation of the Jain temple mound in Sambattur.
3. Repairs to the Śiva temple at Viralur.
4. Protection of the Paintings in Sittannavasal.
5 A prehistoric burial site near the Veller Ry. bridge.
6. Conservation of monuments and buildings

In short, the report presents an interesting and inspiring reading and gives a lively and lucid account of achievements that may do credit to any institution of the kind. The manifold activities of the museum are not only conducive to its own greatness and utility but also inspiring and exemplary for other such institutions.

For the year 1940. Published by the University Mysore.

ANNUAL REPORT OF THE MYSORE ARCHAEOLOGICAL DEPARTMENT.

The report under review is an exhaustive, clear and beautiful record of the activities and achievemens of the Archaeological Department of the great and ancient Hindu State of Mysore. The report is divided into seven parts that separately deal with Administration, Conservation, Study of ancient monuments, and cites, Excavation, Numistics, Manuscripts, Inscriptions respectively.

Part I—Dr. M. H. Krishna, M.A., D. Lit (Lond.), Professor, Mysore University, continued to be the Director of Archaeology in addition to his own duties, says the report. The Director General of Archaeology in India paid a visit to the State and inspected several monuments ; and with his suggestion some spots were marked for trial exavations. Some excavations were accordingly made and a brief account of the same is given in Part IV of this report. The

activities of this department of the State in all the directions is very laudable indeed.

Part II—The report gives, district by district, the list of the important monuments and buildings that have received the earnest care of the State towards their conservation.

Part III—Here too, as above, has been given, district by district the list of monuments, temples etc. that have received special attention during the year under report for the study of ancient monuments and sites.

Part IV—Deals with important excavation *e.g.* of the Brahmagiri site in Chitaldrug District and the important finds are enumerated.

Part V—Dealing with numismatics, makes a mention of many sorts of valuable ancient coins, among them the Pallava and Chera coins, all details whereof are given and illustrations on art paper are attached.

Part VI—Speaks of the 22 valuable manuscripts that have been examined.

Part VII—Here are given a number of valuable ancient inscriptions in temples and elsewhere in original as well Roman transliteration. A plate on art paper is attached to show the original inscriptions. These are 75 in number. A translation of these into English makes them intelligible to those who cannot understand the original

So goes the report of the Archaeological department of the State of Mysore which great in all other respects has to its credit activities in this direction that add one more plume to its gorgeous crown of glory. The get up of the Report with its beautiful print, superfine paper, splendid and attractive binding, coupled with quite a large number of plates and illustrations, has an appeal of its own and is indeed a fitting and beautiful embodiment for the very precious contents.

RAJENDRA PRASAD,
Arrah.

"INDIAN CULTURE"

(JOURNAL OF THE INDIAN RESEARCH INSTITUTE)

A high class research quarterly in English on Indology, conducted under the distinguished editorship of Drs. D. R. Bhandirkar, B. M. Barua, B. C. Law, with a strong Advisory Committee, consisting of such eminent orientalists as Sir D. B. Jayatilaka, Dsr. S. N. Das Gupta, Laksman Sarup, Radhakumud Mukerjee, P. K. Acharya, MMs. Kuppuswami Sastri, Gananath Sen, and others, each of whom represents a particular section of Indian Culture.

It deals with all the branches of Indian Culture-Vedas, Philosophy, Buddhism, Jainism, Zoroastrianism, Ancient Indian Politics and Sociology, Indian Positive Sciences, History, Archaeology, Dravidian Culture, etc. Among the contributors are the best orientalists of India and foreign lands including Drs. Sir B. N. Seal, Sir, A B Keith, Drs. Winternitz, Otto Schrader, Otto Stein, R. C. Mazumdar, P. K. Acharya, etc.

Indispensable for every lover of Indology. A most attractive get up and printing. Each issue contains about 200 pages. Price very moderately fixed Rs. 6 or Sh. 10 per annum (including postage).

Among the other publications of the Institute, which aims at wide propagation of Ancient Indian Culture and Wisdom by publication of the best products of Ancient Literature under various Series Vedic Buddhistic, Jain, etc., are :—

(1) An encyclopaedic edition of the Rigveda with texts, commentaries and translations with elaborate research note in English, Bengali and Hindi.

(2) Gaya and Buddha Gaya, 2 Vols. Rs. 12.

(3) Barhut, 3 Vols. Rs. 27.

(4) Upavana Vinoda (a Sanskrit treatise on Arbori Horticulture), etc., etc., Rs. 2-8.

(5) Vangiya Mahakosa (each part), As. 8.

(6) Books of the Buddhistic Series.

For further particulars, please apply to :

The Hony. General Secretary,
The Indian Research Institute
170 Maniktala Street,
Calcutta, (India.)

संस्कृति का अग्रदूत]धर्म-दूत[सचित्र मासिक पत्र

सम्पादक :—सुमन वात्सायन

आप जानना चाहेंगे कि संसार में भारतीय संस्कृति का कैसे प्रचार हुआ ? "धर्म-दूत" में आप पढ़ेंगे कि चीन, जापान, स्याम, कोरिया, मंगोलिया, तिब्बत, तुर्किस्तान, इरान, अफगानिस्तान, जावा, सुमात्रा आदि देशों में कब और कितनी भयंकर आपत्तियों का सामना करके हमारे पूर्वजों ने भारतीय संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, कला, विज्ञान और धर्म का प्रचार किया। आप भगवान् बुद्ध के उन अनुचरों को भूल गये हैं। "धर्म-दूत" द्वारा उनसे परिचित होकर हृदय उत्साह और साहस से भर जायगा। अपने गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण कर उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकेंगे।

वार्षिक मूल्य १) ; एक प्रति का एक आना।

पता :—" धर्म-दूत " कार्यालय, सारनाथ, (बनारस)

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half-yearly Journal which is issued in two parts, *i.e.*, in June and December.

2 The inland subscription is Rs. 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is 4*s.* 8*d.* per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-8-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, 'Jaina Antiquary' The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office at Arrah should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archaeology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., type-written, and addressed to K. P. Jain, Esq., M. R. A. S., Editor, 'Jaina Antiquary' Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
Prof. A. N. UPADHYE, M.A , D.Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

जैन-सिद्धान्त-भवन के प्रकाशित ग्रन्थ

(१) मुनिसुव्रतकाव्य [चरित्र] संस्कृत और भाषा-टीका-सहित—
सं० पं० के० भुजबली शास्त्री एवं पं० हरनाथ द्विवेदी ... २)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित—सं० प्रो०
रामव्यास पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य ... ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह—सं० बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ॥)

(४) प्रशस्ति-संग्रह (प्रथम भाग)—सं० पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण १॥)

(५) वैद्यसार—सं० पं० सत्यन्धर, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ ... ॥।)

(६) तिलोयपण्णत्ती [प्रथम भाग]—सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ॥।)

(७) Jaina Literature In Tamil *by* Prof. A. Chakravarti,
M. A., I. E. S., ... Price Rs. 2

(८) भवन के संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की सूची ... ... १)

(९) भवन की अंग्रेजी पुस्तकों की सूची ... ... ॥।)

(१०) जैन-सिद्धान्त-भास्कर १म भाग ... ...[अप्राप्य]

(११) ,, २य भाग ... ... ४)

(१२) ,, ३य भाग ... ... ४)

(१३) ,, ४र्थ भाग ... ... ४)

(१४) ,, ५म भाग ... ... ४)

(१५) ,, ६म भाग ... ... ४)

(१६) ,, ७म भाग ... ... ३)

(१७) ,, ८म भाग ... ... ३)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH,